प्रकाशक
उमाशंकर सिंह

मुद्रक
के० मित्रा, इण्डियन प्रेस, लिमिटेड,
प्रयाग

कुछ मित्रो की यह इच्छा थी कि मेरे साहित्यिक निबधो का सग्रह प्रकाशित किया जाय परन्तु बहुत खोज करने पर भी मेरी कोई ऐसी रचना न मिल सकी जो यथार्थरूप से साहित्यिक कही जा सकती हो। एक तो मुझमे उपर्युक्त योग्यता नही है, दूसरे, ऐसे व्यक्ति के लिए जो राजनीति मे सक्रिय भाग लेता हो उस निर्वात बौद्धिक प्रदेश मे आसन जमाना कठिन होता है जहाँ से साहित्यिक रचनाओ का उद्गम माना जाता है। सङ्कल्पनिर्वाह के लिए यह सग्रह प्रस्तुत किया गया है। इसमे जो निबन्ध है उनकी इतनी ही सजातीयता है कि उनमे से किसी का राजनीति, धर्म्म, अर्थनीति जैसे विवादग्रस्त विषयो से प्रत्यक्ष सम्बन्ध नही है और कोई भी आन्दोलन या प्रचार की दृष्टि से नही लिखा गया है।

साहित्यशास्त्री न होते हुए भी मुझे हिन्दी से प्रेम है, उसके वाङमय की श्रीवृद्धि देखना चाहता हूँ। साधारण नागरिक चिकित्सा-शास्त्र का पण्डित नही होता परन्तु औषध का प्रयोग तो उसी के ऊपर होता है, इसलिए उसको वैद्य को परामर्श देने और उसकी आलोचना करने का अधिकार है। बस, ऐसे ही अधिकार के आधार पर मै साहित्यस्रष्टाओ की आलोचना करता हूँ।

इस प्रकार की पुस्तक के लिए लबी भूमिका की आवश्यकता नही होती। सम्भव है मेरा कोई विचार मेरे किसी सहकर्म्मी को रुचिकर और उपादेय प्रतीत हो, इसी भरोसे मै इस सग्रह को निकलने दे रहा हूँ। निबन्धो मे से दो, जिनका विषय शिक्षा है, विश्व-भारती मे निकल चुके है। उनको सम्मिलित करने की अनुमति पण्डित हजारीप्रसाद द्विवेदी की कृपा से मिली है। कला-सम्बन्धी निबन्ध मेरे चिद्विलास नाम के दर्शनग्रथ के, जो ज्ञानमण्डल से प्रकाशित हो चुका है, एक अध्याय का साराश है। इसका कुछ दिग्दर्शन 'जीवन और दर्शन' नाम की मेरी पुस्तक मे हो चुका है। हास्यरस वाला निबध 'प्रेमा' के हास्यरसाक मे निकल चुका है। शेष निबन्ध इस बार बनारस जिला जेल और बरेली सेण्ट्रल प्रिजन मे लिखे गये थे और अब तक अप्रकाशित है।

सम्पूर्णानन्द

———



रूप की सृष्टि

उन थोडे से अभागो को छोडकर जिनको विधाता ने गूँगा जन्म दिया है अन्य सभी लोग बोलते है। बोलना भी दो प्रकार का होता है। कभी-कभी किसी आवेश या पीडा या वायुविकार की अवस्था मे मुँह से आपसे आप ही आ, अरे, हूँ, आह जैसे अव्यय स्वर निकल जाते है। इनके द्वारा सुननेवाले को हमारी मानस-अवस्था का कुछ न कुछ पता लग जाता है, परन्तु हम इनको सकल्पपूर्वक नही बोलते। ऐसे निरुद्देश्य स्वर भाषा के अङ्ग है परन्तु इनसे ही भाषा नही बनती। उसका मुख्यांश वह है जो सोद्देश्य बोला जाता है। बोलने मे एकमात्र उद्देश्य श्रोता को प्रभावित करना होता है। प्रभाव के स्वरूप विभिन्न होते है। कभी हम उसके ज्ञान की वृद्धि करना चाहते है, कभी उसको अपनी ओर आकृष्ट करके उसके द्वारा अपने ज्ञान की वृद्धि करना चाहते है, कभी उसको किसी काम मे प्रवृत्त होने के लिए प्रेरणा देना चाहते है, कभी किसी काम से रोकना चाहते है। परन्तु जहाँ इस प्रकार का कोई उद्देश्य नही होता वहाँ भाषा का प्रयोग नही किया जाता। कवि और श्रोता भी इस नियम के बाहर नही है। कवि के सामने परोक्ष-रूप से वह सब लोग

रहते है जिनसे वह अपनी रचना के पढने की आशा रखता है। जो रचना स्वान्त सुखाय की जाती है उसमे भी कवि अपने आत्मा को श्रोतृ रूप से सबोधित करता है। जो मनुष्य ऐसा नही कर पाता, अर्थात् जिसका मानस-विकास ऐसा नही हुआ है कि आप ही वक्ता और श्रोता बन सके, वह कवि नही हो सकता। गम्भीर से गम्भीर वेदना मे भी मूक ही रह जाता है। स्तोता भी अपने उपास्य को लक्ष्य करके ही रचना करता है। वह स्वय अपने भगवान् को न देख सकता हो पर उसको इतना दृढ विश्वास है कि वह मेरी बाते सुन रहा है और उन पर ध्यान देगा।

भाषा को मनुष्यो को प्रभावित करने की सामर्थ्य इसी लिये प्राप्त है कि वह सामाजिक सम्पत्ति है। भले ही वह व्याकरण के नियमो का पालन करती हो परन्तु वैयाकरण उसका स्रष्टा नही है। जैसा कि पतञ्जलि ने महाभाष्य मे लिखा है—वैयाकरण भाषा का कुम्भकार नही है। वह अपनी या दूसरो की इच्छा से भाषा की रचना नही किया करता। लोगो का बोलना सुनकर नियमो की खोज करता है। बहुत से शास्त्र-कारो को समास, तद्धित, प्रत्यय आदि उपायो से नये शब्दो का निर्माण करना पडता है। इस प्रकार गढा गया शब्द अपने रचयिता की कृति तो है परन्तु आरम्भ मे वह एक स्वर मात्र है जिसका अर्थ केवल एक व्यक्ति जानता है। वह उसकी सम्पत्ति है। पर जिस दिन वह उसको दूसरो के सामने रख देगा और दूसरे लोग भी उसका व्यवहार करने लग जायँगे उस दिन वह सार्वजनिक सम्पत्ति हो जायगा और भाषा का अग बन जायगा। मेरे एक मित्र लाल पेंसिल को 'रक्तमुखो' कहते है। स्वर बुरा नही है परन्तु लाल पेंसिल के अर्थ मे इस पर उनका एकाधिकार है। जिस दिन उनके प्रयत्न से या किसी अन्य प्रकार से सब लोग ऐसा व्यवहार करने लग जायँगे उस दिन यह हिन्दी भाषा का अग हो जायगा। आज यदि वह किसी के सामने इसका प्रयोग करे तो उस पर वह प्रभाव न पडेगा जो उनको अभीप्सित है। सार्वजनिक हो जाने पर यह श्रोता को प्रभावित करने का साधन बन जायगा।

मैं बराबर वक्ता और श्रोता की बात इसलिए कर रहा हूँ कि लिखित भाषा उच्चरित भाषा का ही रूपान्तर है, और लेखक तथा पाठक वक्ता और श्रोता के ही रूपान्तर हैं।

सार्वजनीन अर्थ के बोध करानेवाले स्वर, जिनको हम अब शब्द कहेंगे, भाषा के अंग होते हैं पर इनका प्रत्येक समूह अर्थवाहक नहीं होता। शब्दों का अर्थवाहक समूह वाक्य कहलाता है। वाक्य में शब्द मुख्यश पद रूप में, अर्थात् विभक्तियों तथा कालादि भेदों के प्रत्ययों से युक्त होकर आते हैं। 'राम वहाँ खाना' शब्द समूह है, वाक्य नहीं है, 'वहाँ राम ने खाया' वाक्य है। इस शब्द समूह में आकांक्षा गुण आ गया है, अर्थात् एक शब्द दूसरे शब्द की आकांक्षा रखता है, दूसरे शब्द को खोजता है। 'वहाँ' सुनने पर क्या हुआ?, राम ने सुनने पर 'क्या किया?' 'खाया' सुनने पर 'किसने?' जानने की स्वाभाविक इच्छा होती है। पर केवल प्रत्ययादि का सत्प्रयोग वाक्य के लिये पर्य्याप्त नहीं है। केवल इनका विचार करने से जो वाक्य बनता है वह व्याकरण के अनुकूल होकर भी अर्थहीन होता है। 'राम ने आग से गन्ना सींचा' व्याकरण की दृष्टि से वाक्य है परन्तु इसमें एक दोष है जिसे 'अयोग्यता' कहते हैं। आग से गन्ने का सींचा जाना देखा नहीं गया। सार्वजनिक अनुभव में इसके लिये स्थान नहीं है इसलिए 'आग से सींचना' सार्वजनिक सम्पत्ति नहीं है, भाषा नहीं है, यद्यपि 'आग' और 'सींचना' दोनों शब्द भाषा के अंग हैं और 'आग से सींचा' व्याकरण के अनुसार शुद्ध है। इससे यह बात स्पष्ट हो गई कि शब्दों का कोई भी समूह तभी भाषा के अन्तर्गत माना जा सकता है जब वह सार्थक हो और सार्थकता की कसौटी यह है कि वह चित्त में जो विचार उत्पन्न करे उसका आधार ऐसा अनुभव हो जो श्रोता और वक्ता दोनों को समान रूप से प्राप्त हुआ हो। यह बात शब्द समूहों के लिए ही नहीं समानान्त शब्दों के लिए भी लागू है। हम 'शशशृङ्ग' 'गधे की सींग' बोल सकते हैं पर इन वस्तुओं को किसी ने नहीं देखा है, इसलिये

इन समस्त शब्दो* का कोई अर्थ नही है। भाषा मे इनको द्रविड प्राणायाम के ढग से स्थान मिला है। शश को शृङ्ग नही होती, गधे को सीग नही होती। 'नही' अर्थात् अभाव, अनस्तित्व, सार्वजनीन अनुभव का विषय है अत ऐसे शब्दो मे कोषार्थ पीछे डाल दिया जाता है क्योकि वह सामान्य अनुभव का विषय नही है और वाच्यार्थ कोई ऐसी सर्वानुभूत वस्तु बन जाती है जिसकी ओर यह शब्द अप्रत्यक्ष रूप से सकेत करते है।

प्रत्येक वाक्य मे कम से कम दो पद तो होने ही चाहिये; एक नाम और दूसरा आख्यात। नाम के अन्तर्गत जाति और द्रव्य-वाची सज्ञा शब्द तथा सर्वनाम जैसे वह सब शब्द होते है जो कर्ता रूप मे आते है। आख्यात मे क्रिया पद होते है। यदि किसी वाक्य मे इन दो मे से एक प्रत्यक्ष न देख पडता हो तो अन्यत्र से अध्याहार्य्य होगा, लाया जा सकता होगा। परन्तु नाम और आख्यात के योग मात्र से ही समुचित वाक्य नही बनता, चाहे वहाँ योग्यता का अभाव न हो। समुचित वाक्य, ऐसा वाक्य जिससे अर्थ का बोध और ज्ञान का सचार हो, तभी बनता है जब आख्यात के द्वारा नाम के सम्बन्ध मे कुछ व्यपदेश किया जाय, कोई ऐसी बात कही जाय जो पहिले से ज्ञात न हो, जो नई हो। 'गोविन्द है', 'उस गऊ की सीग छोटी है' ऐसे वाक्यो मे व्यपदेश है परन्तु 'गायक गानेवाला होता है' ऐसा वाक्य नही है। जो मनुष्य सस्कृत के गायक शब्द का अर्थ न जानता हो उसके लिए तो यह वाक्य उसी प्रकार अर्थवाहक हो सकता है जिस प्रकार कोष की यह पक्ति

गायक गानेवाला, गायन करनेवाला।

परन्तु भाषा जाननेवाले के लिए इसमे कोई नई बात नही है। 'गाने-वाला गानेवाला होता है' व्यर्थ की दुरुक्ति है। यदि निष्पक्ष भाव से देखा

*'गधे की सीग' समासान्त शब्द नही है पर सुविधा की दृष्टि से मैंने उसे यहाँ ले लिया है। इसका सस्कृत रूप 'खरविषाण' निर्दोष उदाहरण है।

जाय तो बहुत-सा तथाकथित् साहित्य, विशेषत पद्य-साहित्य, इस प्रकार के वाक्यो से भरा पडा है।

हमने ऊपर देखा है कि शब्द सार्वजनिक सम्पत्ति है और उसका अर्थ सार्वजनिक अनुभव है। विचार करने से प्रतीत होता है कि वस्तुत शब्द का अर्थ सार्वजनिक कृति है। कागज के एक टुकडे पर कुछ अक्षर और अक छपे होते है। उसे नोट कहते है। जब तक वह किसी बकस मे पडा होता है तब तक निर्जीव रहता है, उस पर कुछ भी लिखा हो पर वह उतना ही निकम्मा है जितना कि कूडेखाने मे पडा हुआ समाचार-पत्र का एक फटा टुकडा। पर जब वह नोट हाथो हाथ घूमने लगता है तब और कागजो से उसका जो भेद है वह स्पष्ट हो जाता है। वह अन्न और वस्त्र मे, अध्यापक के वेतन और औषध के मूल्य मे परिणत हो जाता है, उसका अर्थ मनुष्य की भूख और ठण्ड, जिज्ञासा और पीडा से आँका जाता है। कागज का छपा हुआ टुकडा अब भी है परन्तु इस सार्वजनिक व्यवहार ने उसको सुख, स्वास्थ्य और ज्ञान का साधन और पर्य्याय-सा बना दिया, यहाँ तक कि यो कहने को जी चाहता है कि इतने रुपये का नोट = इतनी तृप्ति = इतना स्वास्थ्य = इतना ज्ञान। यही बात शब्दो मे है। शब्द है तो स्वर ही पर जब वह भाषा मे व्यवहृत होकर सैकडो मनुष्यो मे घूमता है तो उसमे विचित्र सप्राणता, विचित्र शक्ति आ जाती है। यह शक्ति बढती जाती है। शब्द मनुष्यो को प्रभावित करता है परन्तु उनसे आप भी प्रभावित हो जाता है। थोडे दिनो तक व्यवहार मे रहने पर किसी भी शब्द का अर्थ पूर्ववत् नही रह जाता। मूल अर्थ के चारो ओर उपार्थो का, गौण अर्थो का, एक पुज बन जाता है। किसी स्वर को वीणा पर, वशी पर, सारगी पर निकालिये, गले से उठाइये। स्वर वही होगा परन्तु प्रत्येक बाजा पहिचाना जा सकता है, सबकी झनकार अलग-अलग होती है। इसका कारण यह है कि प्रत्येक स्वर के साथ दबे रूप से कुछ गौण स्वर भी उत्पन्न होते है और सब बाजो मे एक ही गौण स्वर नही उठते। इसी से परख होती है। इसी प्रकार एक ही विषय का

अनुभव सब को एक-सा नही होता। कोई भी द्रव्य हो, दस व्यक्तियो से, जिन्होने उसको ध्यान से देखा हो और यथार्थवादी हो, उसका वर्णन पूछिये। सब एक-सी बात नही कहेगे। थोडा-थोडा अन्तर होगा। अपनी अपनी धारणा शक्ति, अपना अपना बुद्धिविकास, सबमे पृथक् है, इसी लिए समान विषय के अनुभव मे भी थोडा-थोडा भेद है। यह सब अनुभूति-भेद वाचक शब्द के अर्थ के साथ मिल जाते हैं। एक शब्द सार्वजनिक अनुभव, अर्थात् मिलते-जुलते बहुत से अनुभवो के योग, का वाचक बन जाता है और अनुकूल समय पर अपने अर्थ के अश विशेप को व्यक्त करता है। सारा अर्थ उसके भीतर छिपा रहता है और एक साथ प्राय- कभी भी प्रकट नही होता। उदाहरण के लिए 'स्त्री' शब्द लीजिये। स्थूलरूपेण वैज्ञानिक दृष्टि से तो स्त्री मनुष्य जाति का वह प्राणी है जिसके शरीर की बनावट गर्भ धारण करने और बच्चे को दूध पिलाने के उपयुक्त है और जिसका चित्त वात्सल्य जैसे भावो का आधार है। सम्भवत वैद्य, प्राणि शास्त्री और मनोविज्ञान के वेत्ता के लिए इसके यह ही अर्थ होते होगे। साधारण मनुष्य के लिए स्त्री कभी माता, कभी लडकी, कभी बहिन और कभी प्रेयसी होती है। देशभक्त के लिए स्त्री महारानी लक्ष्मी-बाई जैसी महिलाओ की समानरूपा है जिन्होने अपने अपने समय मे स्वातन्त्र्य के लिए लडनेवालो को स्फूर्ति प्रदान की थी। जो उपासक जगत् को देवीमय देखता है और 'विद्या समस्तास्तवदेवि भेदा., स्त्रिय' समस्ता' सकला जगत्सु'* मानता है उसके लिए स्त्री जगन्माता का प्रतीक है। असस्कृत बुद्धिवालो के लिए स्त्री झूठ, अशौच आदि दुर्गुणो का समूह अत- 'ताडन की अधिकारी' है। विकृत बुद्धि तपस्वी के लिए तपोभ्रंशक प्रलोभनो मे मुकुटमणि है। इस एक शब्द के यह सभी अर्थ है। परिस्थिति-वशात् व्यक्ति विशेप के चित्त मे इसको सुनने से अर्थ विशेप उदय होता है। और और पांव जल मे नही फलते-फूलते और इनमे परस्पर सादृश्य

* हे देवि, जगत् की समस्त विद्याएँ और समस्त स्त्रियाँ तुम्हारी ही भेद हैं। दुर्गा सप्तशती।

भी बहुत कम है, फिर भी हम इन अवयवो को कमल से उपमा देते है, योगी जब एक विशेष प्रकार से बैठता है तो हम उसके आसन को कमलासन कहते है। इन उदाहरणो मे 'कमल' शब्द का अर्थ उसके आकृतिक साम्य के आगे चला गया है। स्त्री का विवाह होता है तो वह पत्नी कहलाती है परन्तु पत्नी को 'सहधर्मिणी' भी कहते है। इस शब्द के अर्थ का सर्जन तो समाज के सहस्रो वर्षो के अनुभव और व्यवहार ने किया है। 'धर्म्म' की जगह क्या कोई दूसरा शब्द रक्खा जा सकता है?

एक ही शब्द से कई प्रकार के अर्थ निकाले जा सकते है। एक तो उसका सीधा-सादा अर्थ होता है जो अभिधा अर्थात् प्रचलित व्यवहार पर निर्भर करता है। 'गऊ' शब्द सुनने से एक विशेष जाति के पशु का बोध होता है क्योकि उस प्रकार के पशु को इस नाम से पुकारने का दस्तूर है। इस अर्थ को वाच्यार्थ कहते है। दूसरा वह अर्थ है जो लक्षणाओ के द्वारा युक्तिपूर्वक शब्द मे पहिनाया जाता है। 'लाल पगडी' आ रही है कहने से लाल पगडी वाले पुलिस कान्स्टेबुल का बोध होता है। 'कमरा सो रहा है' कहने से कमरे मे रहनेवालो की ओर सकेत होता है। इस प्रकार के अर्थ को लक्ष्यार्थ कहते है। कभी-कभी कहनेवाले के मन मे कोई ऐसा भाव होता है जिसे वह किसी कारण से शब्दो के द्वारा स्पष्टतया व्यक्त नही करना चाहता। ऐसी दशा मे कोई मर्मज्ञ ही उसके वाच्यार्थ के पीछे जाकर वास्तविक अर्थ को पकड पाता है। कभी-कभी कोई ऐसे सज्जन, जिनको यह सन्देह हो जाता है कि आप उनसे चन्दा मागेगे, आपको सुना-कर कहते है 'आजकल व्यापार बडा मन्दा है'। बात सोलहो आने सच्ची होगी पर उनका तात्पर्य यह होता है 'मै इस समय आपको कुछ दे नही सकता।' इस प्रकार के छिपे अर्थ को व्यग्यार्थ कहते है। यह व्यग्यार्थ तो उपायसाध्य होता है परन्तु कई ऐसे शब्द है जिनके साथ कुछ गौण अर्थ नित्यलग्न रहते है। यह गौणार्थ उन शब्दो के सैकडो वर्षो के प्रयोग के सस्कार स्वरूप होते है और कभी-कभी उनके गर्भ मे उस भाषा को बोलने-वालो का सैकडो वर्षो का सास्कृतिक इतिहास सम्पुटित रहता है।

अपने सहज, व्युत्पत्तिमूलक, कोष मे दिये हुए अर्थ के साथ शब्द जो इस प्रकार के उपार्थ जोड लेते है उनको ध्वनि कहते है। ध्वनि मे ही शब्द की विशेषता होती है। ध्वनिभेद के कारण समानार्थक शब्द भी बहुधा एक दूसरे के ठीक-ठीक पर्य्याय नही होते। इसी कारण अधिकाश शब्द गणित के अङ्को की भॉति प्रतीकात्मक नही होते। दो मनुष्यो, दो पैसो, दो तारो मे जो समान गुण दो की सख्या है, उसका प्रतीक २ है। अरबी मे इसे ٢ लिखते हैं। रोमन मे II लिखने की प्रथा है। हम चाहे तो कोई और चित्र बना ले। २ की जगह ٢ या II करने से कोई अन्तर नही पडता। गणित की पुस्तक किसी देश की बोली मे छपी हो, अको को एक बार पहचान लेने पर सभी लोग उनको पढ लेगे और सब पर एक ही प्रभाव पडेगा।

२ + ३ = ५

इसका अर्थ सबके लिए एक है। इसकी जगह II + III = V या ٢ + ٣ = ٥ लिखने से कोई भेद नही होता, प्रत्येक व्यक्ति अपनी बोली मे इन चिह्नो का नाम ले लेगा। इन नामो मे से किसी के साथ कोई गौण अर्थ, कोई ध्वनि नही है परन्तु शब्दो मे ऐसा करना बहुत कठिन है। दूसरी भाषा मे अनुवाद करने पर तो वह बात आ ही नही सकती, अपनी ही भाषा मे एक शब्द की ध्वनि दूसरे मे नही लाई जा सकती। पतिपरायणा स्त्रियाँ सभी समाजो मे होती है पर 'सती' की ध्वनि निराली है। 'योगी' के स्थान मे कोई दूसरा शब्द नही रक्खा जा सकता।

बोलनेवाले ही शब्दो को ध्वनि प्रदान किया करते है परन्तु प्रचलित कोषार्थ और ध्वनि की ओर हठात् उदासीनता नही दिखलाई जा सकती। शब्द पर उतना ही अर्थभार डाला जा सकता है जितना वह सह सके। जो कवि शृङ्गारमयी रचना करता है और फिर यह दिखलाना चाहता है कि उसका अभिप्रेत अर्थ आध्यात्मिक था वह या तो अपने श्रोताओ और पाठको को मूर्ख समझता है या भाषा के साथ बलात्कार करता

है। चतुर टीकाकार चाहे तो होली की गालियो को भी योगवेदान्त के तत्त्वो से ओतप्रोत सिद्ध कर सकता है। सम्भव है गाली के प्रयोक्ता का उद्देश्य भी ब्रह्मज्ञानोपदेश ही रहा हो परन्तु ऐसी दशा मे उसको ऐसे शब्दो का प्रयोग नही करना चाहिए था जिनके अर्थावरण मे से आध्यात्मिक ध्वनि नही निकला करती। श्रद्धा या दुराग्रह से चाहे जो कहा जाय परन्तु यदि गीतगोविन्द के केलिवर्णन मे मुझे कोई आध्यात्मिक तथ्य नही मिलता तो यह दोष जयदेव का है, मेरा नही। काव्य-ग्रन्थ इस आशय से बनाये जाते है कि उनका जनता मे प्रचार हो। कवि को इतना ज्ञान होना चाहिए कि उन शब्दो से साधारणत कैसा अर्थ ग्रहण किया जाता है जिनका उसने प्रयोग किया है। यदि शब्द-विन्यास विषय से असङ्गत है तो फिर पाठक को दोष देना वैसा ही है कि 'उलटा चोर कोतवालै डाँटै'।

एक अक्षर के हेरफेर से शब्द कुछ का कुछ हो जाता है और उसकी शक्ति मे आकाश-पाताल का अन्तर हो जाता है। 'त' और 'म' विभिन्न स्वर है परन्तु दो मे से एक मे भी कोई विशेष शक्ति नही है। यदि एक की जगह दूसरा उच्चरित हो जाय तो हमारे ऊपर कोई विशेष प्रभाव नही पडता परन्तु 'मेरा लडका मर गया' और 'तेरा लडका मर गया' के प्रभाव मे कोई समानता ही नही मिल सकती। इसी प्रकार वक्ता के स्वर भेद से शब्द के सामर्थ्य मे बडा अन्तर पड जाता है। 'तुमने ऐसा किया' वर्णनात्मक वाक्य है। 'किया' के स्वर को बदल देने से प्रश्न हो जायगा तुमने ऐसा किया ? 'तुमने' या 'ऐसा' के स्वर मे हेरफेर करने से आश्चर्य, प्रशसा, भर्त्सना के भाव प्रदर्शित किये जा सकते है। दोनो पर जोर देने से आश्चर्य्य और निन्दा का कैसा समिश्रण प्रदर्शित होता है। स्वर के इस भावप्रदर्शक विकार को काकु कहते है।

एक दूसरे के सान्निध्य से शब्दो की शक्ति पर और पानी चढ जाता है। पद्य रचयिता सान्निध्य के अतिरिक्त उनको भिन्न-भिन्न प्रकारो

से सजाता है, यह सजावटें ही विभिन्न छन्द है। इनके द्वारा शक्ति में अद्भुत वृद्धि हो जाती है। विभिन्न भावो के उदय के साथ-साथ नाडि-संस्थान के स्पन्दन मे भी अन्तर होता है। छन्दो मे वर्ण और स्वर का आरोह-अवरोह प्राणस्पन्द के लय की अनुकृति होता है। इसलिए छद काव्य के लिये कृत्रिम बन्धन नही प्रत्युत भावानुकूल प्राकृत कलेवर है। छन्द स्पन्द को और स्पन्द भाव को जगाने मे सहायक होता है। जो बात पद्य मे कुछ थोडे से शब्दो मे कह दी जाती है, गद्य मे उसके लिये बहुत से शब्द लगते है और फिर भी वह रस नही मिलता क्योकि ध्वनि उड चुकी होती है। एक गाने की पक्ति है, 'मेरी ननद निगोडी जागै'। इसमे ननद की जगह 'पति की बहिन' कर दीजिये, जैसा करने का आपको पूरा अधिकार है, और 'निगोडी' की जगह बदमाश, दुष्ट, तग करने-वाली या ऐसा ही कुछ और बदल दीजिये, फिर देखिये कैसा स्वाद मिलता है। कई सौ वर्षो मे 'ननद' और 'भावज' ने अपने चारो ओर जो भावमय ध्वनियाँ बटोर ली है, वह 'पति की बहिन' और 'भाई की पत्नी' के पास नही है। गानो मे जो रस 'सेज' शब्द से टपकता है उसका एक बूँद भी 'शय्या' के पास नही मिल सकता। उत्तर रामचरित के प्रथमाक मे महाराज दशरथ के समय का पुराना कचुकी रामचन्द्रजी के सामने आता है। वह उनको बचपन मे गोद मे खेला चुका है। उन दिनो उनको रामभद्र कह कर पुकारता था, जैसे आजकल हमारे घरो मे, पुराने नौकर बच्चो को राम बाबू या राम भैया कह कर पुकारते है। पुराने अभ्यास से उसने अब भी उसी प्रकार पुकारा, फिर यकायक रुक गया। यह स्मरण हो आया कि अब तो यह राजा है। स्नेह की जगह भय ने ली और उसने सम्बोधन को बदल दिया। इस सारी लम्बी कथा को भवभूति ने कितनी सुन्दरता से कितने थोडे शब्दो मे व्यक्त किया है

*कचुकी—रामभद्र (इत्यर्धोक्ते साशकम्) महाराज -

* कचुकी रामभद्र- (इतना ही कहकर, आशंका के साथ) महाराज।

जनक की वाटिका में सीताजी को देखकर रामचन्द्रजी की जो अवस्था हुई उसका वर्णन तुलसीदास जी इस प्रकार करते हैं

करतॅ बतकही अनुज सन, मन सिय रूप लोभान।
मुख सरोज मकरन्द छवि, करत मधुप इव पान॥

गद्य मे इसको इस प्रकार कह सकते है 'भाई से बाते करते जाते थे पर उनका मन सीताजी के रूप पर मोहित हो गया था। सीताजी का मुख कमल के समान था, उसमे जो छवि थी वह उस मकरन्द अर्थात् मीठे रस के समान थी जो कमल मे पाया जाता है। जिस प्रकार भौरा इस रस का लोभी होता है और कमल पर आकर बैठता है उसी प्रकार रामचन्द्रजी का मन छवि का आनन्द लेने के लिए सीताजी के मुख की ओर लगा हुआ था।' कमल और भौरा और मकरन्द की व्याख्या और भी लम्बी की जा सकती है परन्तु जितनी ही व्याख्या की लम्बाई बढती जाती है उतनी ही भावमयता, प्रभावकता दूर भागती जाती है।

जब मैं था तब पिउ नही, अब पिउ है मैं नाहि।
प्रेम गली अति साँकरी, या मे द्वै न समाहि॥

कबीर के इस एक दोहे के ऊपर एक पूरी पोथी लिखी जा सकती है पर जो ग्राहकता दोहे मे है वह उसमे कहाँ मिलनी है। दोहा छन्द बना रहने दीजिये, 'पिउ' की जगह पति और 'या' की जगह 'इस' कर दीजिये। 'अति साँकरी' की जगह 'बडी पतली' को दे दीजिये और 'गली' को 'सडक' बना दीजिये। नया रूप यह हो गया —

जब मैं था तब पति नही, अब पति है मैं नाहि।
प्रेम सडक पतली बडी, इसमे दो न समाहि॥

मूल बात तो वही है पर दोहे का प्राण निकल गया, क्योंकि नये शब्दो मे वह ध्वनि, वह भावोत्पादकता, नही है।

हिन्दी कवियो ने वर्षाकालीन रचनाओ मे प्राय 'दादुर' शब्द से काम लिया है। यदि 'दादुर धुनि चहुँ ओर सोहाई' की जगह तुलसीदास जी 'मेढक धुनि चहुँ ओर सोहाई', लिख देते तो कैसा भोडा लगता?

मैने एक उदीयमान कवि को 'शम्पा' लिखते देखा है। उनको ऐसा करने का पूरा अधिकार है, पर मेरी समझ मे काव्य मे तड़ित्, सौदामिनी, चञ्चला, चपला, विद्युत्, बिजली या बिज्जु मे से कोई भी शब्द शम्पा से कही अधिक खिलता। ध्वनि और व्युत्पत्ति भेद पर ध्यान न देने से शब्दो का बहुत दुष्प्रयोग हो जाता है। 'आयु' और 'वय' के अर्थो मे साम्य है परन्तु जन्म से वर्तमान काल तक बीते समय को वय और मृत्यु के काल तक बीते समय को आयु कहते है। इस बात पर ध्यान न देकर लोग कभी-कभी पूछ बैठते है 'आपकी आयु क्या है?' इसका क्या उत्तर दिया जाय? यदि दूसरी भाषाओ मे दोनो अर्थो के लिए एक ही शब्द है तो उनकी दरिद्रता हिन्दी के सिर क्यो लादी जाय? 'अवश्य' भी एक ऐसा शब्द है जिसके साथ बहुत अन्याय होता है। अमुक काम 'अवश्य' होगा, कहने मे दबाव, अनिवार्यता, बेबसी का भाव टपकता है परन्तु सर्वत्र यह भाव उद्दिष्ट नही होता। यदि मै किसी से यह कहना चाहता हूँ कि आप शङ्का न करे, मै आऊँगा तो वहाँ 'अवश्य' कहना ठीक न होगा, जब तक कि मेरा यह भी प्रयोजन न हो कि इच्छा न रहते हुए भी मुझे बरबस आना पडेगा। बहुत से स्थलो पर अवश्य की जगह 'नि सन्देह' को देनी चाहिए। आजकल बोलचाल मे, कभी-कभी लिखने मे भी, 'आशा' का बडा दुष्प्रयोग हो रहा है। 'मै आशा करता हूँ कि जब तक मै पहुँचूंगा तब तक उनकी मृत्यु हो चुकी होगी' ऐसे भी वाक्य देखने-सुनने मे आते है। लिखने-बोलनेवाले भूल जाते है कि भाषा मे ऐसे ही अवसरो के लिए 'आशङ्का' जैसे शब्द विद्यमान है। महादेव के शिव, रुद्र, पशुपति, ईशान, विरूपाक्ष, अर्द्धनारीश्वर यह सभी नाम है, शक्ति को शाकम्भरी, चण्डी, सावित्री, मीनाक्षी, आद्या जैसे अनेक नामो से पुकारा जा सकता है परन्तु प्रत्येक नाम स्थल विशेष पर ही ठीक जँच सकता है। कही लाल रग को अरुण कहना ठीक होता है, कही रक्त। कपूर मे दो गुण है उसका रग श्वेत होता है और खुले रहने पर वह जल्दी उड जाता है। संस्कृत और हिन्दी मे उसके नाम

के साथ श्वेतता की ही ध्वनि निकलती है, फारसी और उर्दू मे अचिरस्थायिता की। हिन्दी मे रात्रि को कपूर से उपमा देने का यही अर्थ लगाया जायगा कि धवल चन्द्रिका छा गई, उर्दू मे इस उपमा का अर्थ होगा कि रात जल्दी से बीत गई। इन बातो पर ध्यान न देने से अर्थ का अनर्थ हो सकता है।

'ऋषि' भी उन शब्दो मे है जिनके साथ आजकल बडा अन्याय होता है। 'ऋषयो मत्रद्रष्टार' जिन लोगो के द्वारा वेदो के मत्र अवतरित हुए हैं उनको ऋषि कहते है। हमारे जीवन मे वेदो का जो अप्रतिम स्थान है उसको देखते हुए वेद मत्रो से सम्बन्ध रखनेवाले इन महापुरुषो के लिये एक पृथक् नाम होना कोई बुरी बात या बडी बात नही थी। अन्य मतो मे भी पैगम्बर या प्रॉफेट शब्द इसी प्रकार के व्यक्तियो के लिए छोड दिये गये हैं। पर आजेकल यह दस्तूर चल पडा है कि नये मतो के प्रवर्तक ऋषि कहे जायँ। कभी-कभी राजनीतिक नेता भी ऋषि या ऋषिकल्प कहे जाते हैं। यह धाँधली है। जो लोग इन नये लोगो का आदर करते हैं वह उनको सुगमता से दूसरी उपाधियाँ दे सकते हैं। भृगु, वशिष्ठ, अगिरा ऋषि थे पर उनकी कोई पूजा नही करता, राम कृष्ण ऋषि नही थे परन्तु पुजते है। अवतार जैसी पुरानी उपाधियो से काम नही चलता तो भाषा अभी बन्ध्या नही हुई है, नये शब्द गढे जा सकते है। जिस प्रकार जो सीना नही जानता उसको दर्जी कहना असाधु प्रयोग है उसी प्रकार जो मत्रद्रष्टा नही है उसको ऋषि कहना असाधु प्रयोग है।

यह थोडे से उदाहरण मात्र हैं। सोचने से ऐसे और बहुत से शब्द मिलेगे जो दुष्प्रयोग के कारण वाक्य के कलेवर को बिगाड देते है।

हम देख चुके हैं कि भाषा का प्रयोग श्रोता को प्रभावित करने के उद्देश्य से होता हैं। श्रोता मे किसी भाव को जगाना प्रभावित करने का एक प्रकार है। वही भाव'जगाये जा सकते है जो बीज रूप से श्रोता के अन्त करण मे पहले से विद्यमान हो। इसलिए ऐसे शब्दो से काम लिया जाता है जिनमे गम्भीर ध्वनियाँ हो, जिनके वाच्यार्थ उभयपक्ष के अनुभव

मे आये हो, जिनको उभयपक्ष बोलते हो। इस कला को साम्प्रदायिक उपदेष्टा, राजनीतिक नेता, सर्कारी के प्रचार-विभाग, पत्रकार और कवि खूब जानते है। यहाँ 'कला' शब्द का प्रयोग मैने कारण विशेष से किया है। जिन लोगो का अभी उल्लेख किया गया है उनका उद्देश्य केवल पुरानी अनुभूतियो को जगाना, पुरानी स्मृतियो को पुनरुज्जीवित करना नही होता। स्मृति प्रत्यक्ष के बराबर तीव्र नही हो सकती। स्मृत सुख मे वैसी मादकता, स्मृत दुख मे वह कसक नही होती जो उसमे उस समय थी जब उसकी अनुभूति प्रत्यक्षत हुई थी। दुर्बल वेदनाओ को जगाकर क्या होगा, कवि और प्रचारक तो वर्तमान और अनागत के लिए तैयारी करते है, इसलिए वह अतीत से उतना ही काम लेना चाहते है जितना कि उस सीढी से लिया जाता है जिस पर पॉव रख कर छत पर चढना होता है। जिस उपाय से ऐसा किया जाता है वही लिखने-बोलने की कला है।

जब किसी मनुष्य के सामने कोई विषय आता है तो उसके अन्त करण पर जो प्रतिक्रिया होती है, उसके दो अग होते है। कुछ तो दृष्य का स्वरूप अंकित होता है, कुछ उसके प्रति किसी न किसी प्रकार का भाव . राग, द्वेष या इनका कोई अवान्तर भेद उत्पन्न होता है। अनुभूति या दर्शन स्वरूप और भाव का योग है, इसीलिए एक ही वस्तु का अनुभव दो व्यक्तियो को कभी एक-सा नही होता, चाहे उनकी ऐन्द्रिय और बौद्धिक क्षमता मे कोई भेद न हो। भावो मे भेद क्यो होता है यह रोचक विषय है पर यहॉ हम उस पर विचार नही करते। गणित जैसे 'सूखे' विषयो से भी भाव को पृथक् नही किया जा सकता। गणितज्ञ को टेढे प्रश्नो मे बुद्धि लडाने और अन्त मे उन पर विजय पाने मे बड़ा रस मिलता है परन्तु वह यह समझता है कि भावो से वस्तु के स्वरूप पर पर्दा पड जाता है। जो भावो की धारा मे बह रहा हो, जिसके चित्त मे स्त्री की मदनवासना-तर्पिणी मुद्रा भरी हो, वह उसके शरीर पर नश्तर चलाकर उसकी दैहिक बनावट को नही समझ सकता। अपने घरवालो का फोडा चीरने मे चिकित्सक का हाथ कांप जाता है, कडवी औषध देते नही बनती। इसलिए

वैज्ञानिक भावो को दबाना चाहता है, उसका प्रयत्न यह होता है कि यथासम्भव दृश्य के पारमार्थिक रूप को, उस रूप को जो द्रष्टा के अभाव मे भी रहेगा, पहिचाने और दूसरो को भी पहिचनवाये। इसमे उसको कहाँ तक सफलता होती है यह तो दार्शनिक विषय है पर इस प्रयत्न मे वह ऐसी भाषा से काम लेने का उद्योग करता है जिसमे 'मै' को बहुत कम स्थान हो। इसीलिए वह शब्दो की जगह अको और चिह्नो को देता है और अकगणित से, जिसमे ऐसी वस्तुओ का उल्लेख होता है जो मनुष्य को भली या बुरी लगती है, रेखागणित और बीजगणित को, जिनमे केवल बिन्दु, अक्षर और रेखा से काम लिया जाता है, श्रेष्ठ मानता है।

कवि और प्रचारक भावो को जगाना चाहते है पर भावो को वस्तुओ से अलग नही किया जा सकता। राग, द्वेष, प्रेम, क्रोध किसी न किसी वस्तु के प्रति ही उदय होते है। इसलिए इनको जगाने के लिये जिन शब्दो का प्रयोग किया जायगा उनसे बाहरी वस्तुओ का भी थोडा बहुत बोध होगा। कुशल वक्ता का, जो बोलने की कला जानता है, प्रयत्न यह होता है कि वस्तु का, शब्द के मूल अर्थ का, भान तनु और उसके गौण अर्थ का, ध्वनि का, भान उदार हो। भावाभिव्यक्ति कर्मप्रवृत्ति की पहली सीढी है। लोगो मे देशभक्ति, त्याग और कष्टसहन का भाव जगाने के लिये महाराणा प्रताप या शिवाजी या गुरु गोविन्दसिह का यशोगान किया जाता है। इन लोगो का इतिवृत्त इतिहास की पुस्तको मे सविस्तर दिया रहता है। इनके जन्म लेने से अन्तिम साँस तोडने तक का ब्योरा मिलता है परन्तु इस सारे वर्णन से चित्त इन लोगो पर, इनके कामो पर, इनके समय की परिस्थितियो पर जम जाता है और उसकी वृत्ति उस चिकित्सक की-सी रस शून्य हो जाती है जो प्रयोगशाला मे मुर्दे को चीरता है। कवि भी शब्दो से ही काम लेता है। उसकी रचना मे भी इनके, इनके साथियो और शत्रुओ के, इनके युद्धस्थलो के, नाम आते है पर चित्त इन वस्तुओ मे उलझने नही पाता। परिणाम यह होता है कि इन वस्तुओ के वाचक शब्दो की ध्वनियाँ खुलकर सामने आती है और

एक दूसरे में मिलकर उस बलवती ध्वनि, उस तीव्र भाव को जन्म देती हैं जिसका जगाना सारी रचना का अभीष्ट होता है। पर्वत, नदी, वन, वायु, वर्षा का वर्णन भूगोल की पुस्तक में भी मिलता है और काव्य की पुस्तक में भी, परन्तु दोनो प्रकार के वर्णनो मे महान अन्तर होता है। भूगोल की पोथी का लक्ष्य प्राकृतिक दृश्यो का फोटो खीचना होता है। कवि उनको अनुकूल भावो के जगाने का साधन बनाता है। इस प्रकार श्रोता को ऐसे भावो का अनुभव कराया जा सकता है जिनकी अनुभूति उसको पहले न थी, इसी कला के सहारे साधारण मनुष्य जो नित्यप्रति, के व्यवहार मे भावुक नही प्रतीत होते, ऊँची से ऊँची आत्मबलि करने के लिए सन्नद्ध बना दिये जाते हैं।

इससे यह स्पष्ट है कि वाक्य का अर्थ, वह प्रभाव जिसका उत्पादन उसका अभीष्ट है, उसके अवयवभूत शब्दो के वाच्यार्थों से पृथक् भी हो सकता है। 'यहाँ सिंह है' मे सिंह मे अस्तित्वमात्र का व्यपदेश है परन्तु श्रोता इस वाक्य को केवल परिस्थितियो का परिचायक नही समझता। सिंह के साथ जो व्याघात की ध्वनि लगी हुई है वह उसको तत्काल सतर्क कर देती है। इतना ही नही, वक्ता की मुद्रा या उसके काकु से यह सतर्कता भय का रूप ग्रहण कर सकती है और वर्णन वाच्य आदेश वाच्य बन सकता है। 'यहाँ सिंह है' इन तीन शब्दो के वाच्यार्थ के पीछे वक्ता का अभीष्टार्थ 'भागो' विद्यमान है। इस प्रकार नये अर्थ का द्योतन प्रयोजना के कौशल पर निर्भर करता है। प्रत्यक्ष बातचीत मे तो काकु आदि से भी वक्ता को सहायता मिलती है परन्तु लिखित काव्य में केवल रचना-चातुर्य का भरोसा होता है। बोलते तो सभी है परन्तु शब्दो की प्रत्यक्ष और परोक्ष शक्ति से कोई गुणी ही काम ले सकता है।

श्रोता के ज्ञान की वृद्धि करके भी उसे प्रभावित किया जाता है। परन्तु ज्ञान के क्षेत्र मे भाषा की शक्ति इतने तक ही परिसीमित नहीं है कि वह पूर्वस्थित ज्ञान को एक व्यक्ति से दूसरे तक पहुँचा दे। तर्क की सहायता से भाषा हमारे ज्ञानभण्डार मे वृद्धि करती है। मैंने बहुत

सी नीली वस्तुएँ देखी है, इसलिए नील शब्द के वाच्यार्थ को जानता हूँ; कमल भी छोटे, बडे, लाल, पीले अनेक देखे है इसलिए इस शब्द का वाच्यार्थ भी परिचित है। जब मै 'नील कमल' कहता हूँ तो बिना ऐसा फूल देखे भी उसके सम्भव गुणो से परिचित हो जाता हूँ। यह ज्ञान प्रत्यक्ष सापेक्ष है, अन्यथा नील कमल भी गधे की सींग की भाँति अभाव का वाचक हो जायगा परन्तु यदि प्रत्यक्ष का अविषय न हुआ तो नील कमल के गुण वही होगे जो हमारे ध्यान मे शब्द के सुनने से आ गये थे। कोई अपरिचित मनुष्य लोगो के सामने आता है। उसके विषय मे जाँच करके मै कहता हूँ कि यह हिन्दू है या धोबी है या हब्शी है, तत्काल सुननेवालो को उसके बहुत से गुणो का पता चल जाता है। एक नया खनिज मिलता है। उसकी परख करके रसायनवेत्ता कहता है कि इसमे ८०% लोहा है। तत्काल यह बात जान ली जाती है कि उसका किस-किस प्रकार और क्या-क्या उपयोग किया जा सकता है। किसी पशु के सम्बन्ध में यह सुनते ही कि यह जरायुज है हमको उसके शरीर के गठन तथा जीवनचर्य्या आदि के सम्बन्ध मे कई बाते ज्ञात हो जाती है। इस प्रकार भाषा हमारे संचित ज्ञानभण्डार मे नया ज्ञान जोडती है। भाषा का आधार श्रोता वक्ता का पुराना अनुभव, पुराना ज्ञान होता है, अन्यथा वह भाषा न होकर निरुद्देश्य स्वरो का समूहमात्र होती परन्तु उसके द्वारा नया ज्ञान प्राप्त हो सकता है, इसमे भी कोई सन्देह नही है। यदि भाषा का साधु प्रयोग हुआ है तो हमको यह पक्का विश्वास रहता है कि यह ज्ञान प्रत्यक्ष की कसौटी पर ठीक उतरेगा, अर्थात् सत्य होगा।

किसी ने कहा है कि भाषा विचारो को छिपाने का साधन है। कुछ दूर तक यह बात भी ठीक है। जिस प्रकार थोडा-सा कह कर बहुत से अर्थ का बोध कराया जा सकता है 'सुन्दरता मरजाद भवानी' कह कर तुलसीदास जी ने कल्पना की लम्बी से लम्बी दौड के लिए मैदान खोल दिया है उसी प्रकार बहुत से शब्दो को इस भाँति बहाया जा सकता है कि उनमे से एक बूँद भी अर्थ न निकले। राजदूतो, पत्रकारो, राजनीतिक

नेताओं, उन सब ऐसे लोगों को जिनको समय-समय पर अनिवार्य्यतया बोलना पड़ता है, चाहे इच्छा हो चाहे न हो, इस प्रकार बोलने का अभ्यास पड़ जाता है। जो पुस्तक रुपया कमाने के लिये लिखी जाती है उसकी भी यही दशा होती है। विश्वविद्यालयों के छात्रों को कभी-कभी ऐसे अध्यापकों से पाला पड़ता है जिनकी जिह्वा घड़ी के पुर्जे की भाँति बराबर चलती रहती है परन्तु उनके घंटे भर के बोलने का निचोड़ कुछ नहीं के बराबर होता है।

यह दार्शनिक निबन्ध नहीं है, इसलिए शब्द, वाक्य, शब्दार्थ और वाक्यार्थ के सम्बन्ध में सविस्तर विवेचना करने की यहाँ आवश्यकता नहीं है, परन्तु इतना संकेत कर देना अनुचित न होगा कि यह सारे प्रश्न बहुत ही जटिल हैं। 'मनुष्य' का वाच्यार्थ क्या है? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए एक बड़ी पोथी लिखनी होगी, फिर भी उसमें उन सब बातों का समावेश स्यात् न हो पावेगा जिनका ज्ञान प्राणिशास्त्र, मनोविज्ञान, धर्म्मशास्त्र, दर्शन, आचारशास्त्र और समाजशास्त्र जैसी विद्याओं से प्राप्त होता है। मैं मनुष्य हूँ, आप मनुष्य हैं, गोविन्द मनुष्य है, हिटलर मनुष्य है, पर हम सब में कोई भी मनुष्य शब्द का शुद्ध वाच्यार्थ नहीं है, सब वाच्यार्थ के पृथक् उदाहरणमात्र हैं। यही बात सब जातिवाचक नामों के लिये लागू है। द्रव्यवाचक नामों की भी कुछ ऐसी ही दशा है। मेरी लड़की का नाम मीनाक्षी था। जब जन्म हुआ तब भी मीनाक्षी थी, घुटनों चलती थी तब भी मीनाक्षी थी, स्कूल जाती थी तब भी मीनाक्षी थी, इहयात्रा समाप्त करते समय भी मीनाक्षी थी। प्रतिक्षण वय बदलता रहा, शरीर के अवयव बदलते रहे, बुद्धि बदलती रही, स्थान बदलता रहा, चेष्टा बदलती रही। जो मीनाक्षी एक बार थी, वह दूसरी बार नहीं रही। इस शब्द का सच्चा वाच्यार्थ तो इन सब मीनाक्षियों का योग होगा। यों जब मैं 'मीनाक्षी' कहता हूँ तो जो मूर्ति मेरे चित्त में उदय होती है वह इस नाम के वाच्यार्थ का एक अंशमात्र है।

सच पूछा जाय तो प्रत्येक शब्द एक प्रकार से जातिसूचक, दार्शनिक

परिभाषा मे, 'सामान्य' है। मै कहता हूँ 'घोडा', आप भी कहते है 'घोडा'। साधारण व्यवहार मे यह कहा जायगा कि हम दोनो एक ही शब्द का उच्चारण कर रहे है पर ऐसा तो नही है। उच्चारण के समय मे भेद है, उच्चारण करनेवाले मुँह भिन्न है, उच्चरित स्वर भिन्न है। अत दोनो स्वर एक नही है। मेरे ही मुँह से दो बार निकला हुआ 'घोडा' शब्द एक नही हो सकता। इन सब स्वरो मे साम्य का होना निर्विवाद है पर यह साम्य उसी प्रकार का है जैसा कि दो उन प्राणियो मे होता है जिनको हम इस साम्य के कारण घोडा कहते है। इसका तात्पर्य यह है कि घोडा शब्द भी जाति या सामान्य का बोध कराता है। बार-बार एक ही 'घोडा' शब्द बोला जाता है कहने का अर्थ इतना ही है कि बार-बार उस जाति का स्वर किया जाता है जिसको घोडा कहते है। प्रत्येक बार का उच्चरित स्वर उस सामान्य का उदाहरणमात्र है।

दूसरा महत्व का प्रश्न यह है कि शब्द और अर्थ का सम्बन्ध नित्य है या अनित्य। नित्यता की परख अन्वय व्यतिरेक के आधार पर हो सकती है। यदि किसी शब्द विशेष के उच्चारण से अर्थ-विशेष का भान स्वत हो जाय और उच्चारण के अभाव मे न हो तो मानना होगा कि उस शब्द का उस अर्थ के साथ नित्य सम्बन्ध है। यदि यह सम्बन्ध नही मिलता तो फिर सम्बन्ध अनित्य और व्यवहारमूलक होगा अर्थात् लोगो मे यह परम्परा किसी प्रकार चल पडी होगी कि इस वस्तु को इस नाम से पुकारा जाय। एक मत यह भी है कि यद्यपि साधारण शब्दो का अर्थो के साथ नित्य सम्बन्ध नही है तथापि शब्दो के अवयवभूत मूल स्वरो का अर्थ विशेषो के साथ नित्य सम्बन्ध है। यह अर्थ भी स्थूल अर्थ नही प्रत्युत सूक्ष्म अर्थ है जो वासना और भावना के रूप मे हमारे जीवन व्यापार को चलाते है। इसी लिए सगीत का, जिसमे मूल स्वरो से ही काम लिया जाता है, प्रभाव ऐसे मनुष्यो पर भी पडता है जो गायक की भाषा को नही जानते। पशु पक्षी तक स्वरो के प्रयोग से प्रभावित किये जा सकते है।

हमने ऊपर देखा है कि वर्णनात्मक वाक्य में आख्यात के द्वारा नाम के विषय में कुछ व्यपदेश होता है। व्यपदेश पर विचार करने के पहले वाक्य के स्वरूप पर एक दृष्टि डालनी चाहिए। वाक्य शब्दों का समूह है पर यह समूह उस जाति का है जिस जाति के समूह प्राणि जगत् में पाये जाते हैं। भौतिक जगत् में अवयवी अपने अवयवों के योग के बराबर होता है। परन्तु सजीव जगत् में अवयवी अवयवों के योग से बड़ा होता है। सजीव ही नहीं, अजीव जगत् में भी इस बात के उदाहरण मिलते हैं। नदी जलबिन्दुओं का योगमात्र नहीं है। उसमें तरंग, प्रवाह, आह्लाद-कता, भयोद्दीपकता आदि जो गुण हैं वह बिन्दुओं में अंशत भी नहीं मिलते। मनुष्य हड्डी, मांस, चमड़ा, मस्तिष्क आदि का योगमात्र नहीं है। इसी प्रकार वाक्य भी शब्दों का योगमात्र नहीं है। उसका अपना व्यक्तित्व होता है जो सूत्रात्मा की भाँति उसके शब्दों में अनुस्यूत रहता है। 'कुत्ता चूहा खा गया' और 'चूहा कुत्ता खा गया' इन दोनों में वही चार शब्द आये हैं। भौतिक दृष्ट्या इनमें कोई भेद नहीं है पर हमको तत्काल यह प्रतीति होती है कि दोनों वाक्य एक नहीं हैं। दोनों का व्यक्तित्व, अर्थयोजक सूत्र अलग अलग है। परन्तु शब्दों के भिन्न होने पर भी एक-वाक्यता हो सकती है। 'कुत्ता चूहा खा गया', 'कुत्ता चूहे को खा गया', 'चूहा कुत्ते से खाया गया', 'मूषक कुक्कुरेण भक्षित' यह वस्तुत विभिन्न रूपों में एक ही वाक्य है, क्योंकि वाच्यार्थ एक ही है।

अब व्यपदेश को लीजिये। मैंने पहिले कहा है कि वाक्य में आख्यात के द्वारा नाम के सम्बन्ध में कोई नई बात, ऐसी बात जो श्रोता को ज्ञात नहीं थी, बतलाई जाती है। 'अमुक तिथि को दिन में १॥ बजे मीनाक्षी की मृत्यु हुई' देखने में सीधा-सा वाक्य है। इसका अर्थ स्पष्ट प्रतीत होता है। मैं यह नहीं कहता कि अर्थ स्पष्ट नहीं है परन्तु इसका विश्लेषण करने में इसकी जटिलता का कुछ पता चलता है। काल की एक अविच्छिन्न धारा जगत् की रचना के आरम्भ से ही चली आ रही है। उस धारा में 'अमुक तिथि को दिन में १॥ बजे' एक बिन्दु है। इस बिन्दु

पर कई घटनाएँ हुई परन्तु यहाँ हम उनमे से केवल एक पर ध्यान देते हैं। यह है मीनाक्षी की मृत्यु। करोडो जीव मर चुके, मर रहे है और मरेगे। सब प्राणियो की जीवन-धारा कही न कही कटती है। कटने के सब ढग एक से नही होते पर उनमे कुछ न कुछ सादृश्य होता है, अत उन सबको मृत्यु शब्द का वाच्य मान लेते है। यो कह सकते है कि मृत्यु प्राप्त, मृत, व्यक्तियो की एक लम्बी माला है जिसमे बराबर नये दाने पुहते रहते है। इसी प्रकार एक माला या रेखा उन मूर्तियो की है जो सब मिलकर मीनाक्षी शब्द का वाच्यार्थ है। यह तीन रेखाएँ एक जगह मिलती है, एक दूसरे को काटती है। तीन रेखाओ से मेरा तात्पर्य्य काल रेखा, मृत-प्राणि रेखा और मीनाक्षी रेखा मे है। इसी बात को हम अमुक समय पर मीनाक्षी का मरना कहते है। उस क्षण पर मीनाक्षी शब्द के वाच्यार्थ की अगभूत एक मूर्ति विशेष मृत प्राणी शब्द के वाच्यार्थ के अन्तर्गत हो गई।

अर्थ के इस प्रकार के स्पष्टीकरण मे हम कई बातो को मान लेते हैं। यहाँ उन पर विचार न करके भी उनकी ओर सङ्केत करना उचित हो[illegible] काल को लीजिए। काल क्या है? उसकी कोई पा[illegible] है [illegible] वह हमारा बौद्धिक विकार है या दिक् को ही [illegible] है? [illegible] छोडिये, काल की नाप कैसे हो? पृथ्वी सूर्य्य की [illegible] है [illegible] सूर्य्य स्वय चल है, अत पृथ्वी जिस स्थान [illegible] है वहाँ फिर कभी लौटकर नही आती। जब कोई [illegible] नहीं है [illegible] प्रवाह कैसे नापे? जगत् का आदि [illegible] के पहले' कहने से ही यह बात निकलती है कि [illegible] पीछे का व्यवहार काल मे ही [illegible] हो? और नीचे के [illegible] है। पृथिवी के बाहर [illegible] जगह एक साथ दिन [illegible] है [illegible] नक्ष स्थान का निर्देश [illegible]

दूसरी बात हम यह मान लेते है कि जिन नामो के विषय मे कुछ व्यपदेश होता है उनके वाच्यार्थो का अस्तित्व है और व्यपदिष्ट की भी सत्ता है। 'यह कमल नीला है' कहते समय यह मान लिया जाता है कि कमल भी है और नील वर्ण भी है। पर इस बात का क्या प्रमाण है? कमल की अमुक आकृति होती है, अमुक गन्ध होती है, ऐसी कोमलता होती है, यह तो हम बोलते है परन्तु वस्तुत कोमलता, गन्ध, आकार और रग यह सब वह विकार है जो इन्द्रियो के द्वारा हमारे चित्त मे उत्पन्न होते है। अन्यमनस्क या विकलेन्द्रिय के लिए इनमे से किसी भी विकार का लोप हो सकता है। 'नील वर्ण' भी ऐसा ही विकार है। अत व्यपदेश्य और व्यपदिष्ट, कमल और नील वर्ण दोनो हमारी बुद्धि मे है। व्यपदेश एक विकार मे दूसरे विकार का हो रहा है। तर्क से हमको ऐसा प्रतीत होता है कि भिन्न प्रकार के विकारो के उत्पन्न होने के लिए विभिन्न कारण होने चाहिये और यह कारण कही न कही अन्त करण के बाहर होने चाहिये, अन्यथा कई अन्त करणों मे युगपत् एक ही प्रकार के विकार न उत्पन्न होते। इस तर्क मे तथ्य भले ही हो पर इससे किसी बाह्य-जगत् मे कुछ का अस्तित्व या कुछ पदार्थो का अतिस्त्व अनुमित हो सकता है, कमल के फूल और नीले रग का अस्तित्व सिद्ध नही हो सकता। यह भी विचारणीय है कि यह अनुभव करनेवाला 'मैं' क्या है।

इन कठिनाइयो को जाने दीजिये। इतना ही स्मरण रखिये कि यदि काल और बाह्यजगत् के प्रतीयमान रूपो के सम्बन्ध मे सन्देह के लिए स्थल है तो फिर हमारे सारे अनुभव और उनका वर्णन, शब्द, वाक्य, भाषा, अर्थ यह सभी शकास्थल मे पड जाते है।

हम कहते है कि अमुक वाक्य सत्य है, अमुक झूठा है। 'कुत्ता चूहा खा गया है' सत्य हो सकता है, चूहा कुत्ता खा गया' सत्य नही हो सकता। यहाँ सत्य-असत्य का अर्थ क्या है और कसौटी क्या है? स्वय अपने मे कोई वाक्य सच-झूठ का परिचय नही देता। 'चूहा कुत्ते को खा गया' सुनने मे बुरा नही लगता, लिखने मे कष्ट नही देता। अकेले

वाक्य को लेकर सच-झूठ का निर्णय करना कभी-कभी कैसा कठिन हो सकता है इसको दिखलाने के लिए एक उदाहरण दिया जाता है जिसे 'झूठे की प्रहेलिका' कहते हैं। वह कुछ इस प्रकार से है। एक मनुष्य कहता है 'मैं इस समय झूठ बोल रहा हूँ।' उस समय उसके मुँह से यह एक ही वाक्य निकला था। अब यदि यह वाक्य झूठ है तो उस मनुष्य ने ठीक कहा अर्थात् वह सच बोला और यदि वाक्य सच है तो वह झूठ बोला। इसको यो कह सकते है कि यदि वह झूठा है तो सच्चा है और यदि सच्चा है तो झूठा है। अस्तु, वाक्य के सच-झूठ की परख बाहर से करनी होगी।

पहिले तो यह देखना होगा कि हम वाक्य मे सार्वभौम सत्यता आरोपित करते है या एकदेशीय। यह स्पष्ट होना चाहिए कि हम क्या कहना चाहते है, सब कुत्ते सब चूहो को खा गये, सब कुत्ते एक चूहे को खा गये, एक कुत्ता सब चूहो को खा गया या एक कुत्ता एक चूहे को खा गया। हमारे उद्देश्य के निश्चित होने पर ही सच-झूठ की जाँच आरम्भ हो सकती है। जाँच के कई उपाय है जिनको मुख्यत परिभाषामूलक, तर्कमूलक और ऐतिह्य कह सकते है। यहाँ पर हम उन वाक्यो पर विचार नही कर रहे है जिनमे हमारे निजी ऐन्द्रिय या बौद्धिक अनुभूतियो या विकारो का वर्णन रहता है। इनकी सत्यता का तो हमको अपरोक्ष ज्ञान होता है। 'यह लडकी अण्डे मे से तीसरे सप्ताह मे निकली' झूठ है, क्योकि मनुष्य शब्द की परिभाषा के अनुसार प्रत्येक मानव-सन्तान जरायुज ही होगी, अण्डज नही। यहाँ असत्यता निर्धारित करने के लिए परिभाषा ही पर्य्याप्त है, और कोई परख करना अनावश्यक है। कुछ वाक्यो की सत्यता-असत्यता तर्क अर्थात् अनुमान के बल पर निर्धारित की जा सकती है। दूरस्थ पहाड पर धुआँ देखकर अग्नि की सत्ता का अनुमान किया जाता है। सारे गणितशास्त्र के मन्तव्यो की सत्यता तर्कमूलक हैं। क्योकि क है, इसलिए ख है, क्योकि क नही है, इसलिए ग नही है, गणित मे सत्य की यही कसौटी है। कुछ बातो को स्वत सिद्ध मान लिया गया

है, जैसे 'यदि दो चीजे किसी तीसरी चीज के बराबर हो तो वह एक दूसरे के बराबर होगी। 'बस' इन थोडे से स्वत सिद्ध सिद्धान्तो के आधार पर सारा तर्क खडा होता है। तर्क के द्वारा यह सिद्ध हुआ है कि प्रत्येक त्रिभुज के तीनो कोणो का योग दो समकोणो के बराबर'होता है। किसी त्रिभुज को देखते ही हम मान लेते है कि इसके कोणो का योग दो सम-कोण है। एक बार मूल सिद्धान्तो को मान लेने पर बहुत-सी बातो की सत्यता-असत्यता तर्क से जानी जा सकती है। जो बात उन मूल सिद्धान्तो से निष्पन्न होती है वह सत्य है, जो नही निकलती वह असत्य है।

अनुभव मूलक परख को ऐतिह्य कहते है। इसका आधार है इतिहास, घटनाक्रम। राम ने रावण को मारा, जायसी ने पद्मावत लिखा इन वाक्यो की सत्यता इसमे है कि यह घटनाएँ घटी थी। किसी तर्क से यह बात नही निकाली जा सकती कि गाधी जी के पिता का नाम कर्मचन्द था। ऐतिह्य परीक्षा कुछ तो हम स्वय करते है, कुछ आप्त पुरुषो की बात को मान लेते है। सायण को वेदभाष्य लिखते मैने नही देखा परन्तु ऐसे लोग जो देख सकते थे और जहाँ तक मै जानता हूँ मिथ्यावादी न थे ऐसा लिख गये है, इसलिए मै इसे सत्य मान लेता हूँ। बहुधा हम ऐसी बातो मे भी आप्त वाक्य को ऐतिह्य प्रमाण मान लेते है जहाँ स्वय परीक्षा करना सुकर है। कितने लोगो ने १९×७=१५३ को गिनकर देखा है? अपने मुँह के बत्तीस दाँतो को कितने लोगो ने गिना है? जिन वाक्यो मे सार्वभौम रूप का व्यपदेश होता है अर्थात् जिनमे 'सब' के विषय मे कुछ कहा जाता है उनकी असत्यता तो ऐतिह्य से सिद्ध हो सकती है पर सत्यता केवल तर्क से पुष्ट हो सकती है। 'सब त्रिभुजो के कोण दो समकोणो के बराबर होते हैं' मे सार्वभौम व्यपदेश है। यदि हमको एक भी ऐसा त्रिभुज मिल जाय जिसके कोणो का योग दो समकोणो से कम या अधिक हो तो वाक्य की असत्यता सिद्ध हो जायगी परन्तु अनुभव इसकी सत्यता सिद्ध नहीं कर सकता। अनुभव के बल पर

इसकी सत्यता की परख तब हो जब हम एक ओर तो विश्व के सब त्रिभुजो के कोणो के योगो की परीक्षा करे, दूसरी ओर विश्व भर की उन समस्त सभुज आकृतियो को, जिनके कोणो का योग दो समकोणो से कम या अधिक होता हो, लेकर देखे कि उनमे से कोई त्रिभुज तो नही है। यह काम हमारी शक्ति के बाहर है।

किसी किसी वाक्य की सत्यता की प्रतीति हमको एक विशेष प्रकार के अनुभव द्वारा होती है। इसे प्रातिभ कहते है। इसकी सबसे बडी विशेषता यह है कि यह सदा स्वगत रहता है, दूसरे किसी को इसका भोक्ता नही बनाया जा सकता। किसी मनुष्य को देखते ही चित्त मे एक ऐसी भावना उठती है जिसको हम इन शब्दो से व्यक्त कर सकते है 'यह मनुष्य बडा दुष्ट है'। उस समय तक हमको उसके किसी दुष्कर्म्म का पता न हो पर हमारे लिए यह वाक्य सत्य है। घटनाये पीछे से इस सत्यता का समर्थन कर दे पर हमको तो प्रातिभ अनुभव से ही पहली सूचना मिली थी। प्रयोक्ता के लिए सत्य होते हुए भी ऐसे वाक्य श्रोता के लिए असत्य हो सकते है।

वह शास्त्र-चर्चा, जिसकी ओर यहाँ थोडा-सा सकेतमात्र कर दिया गया है, किसी-किसी को रूखा और अनावश्यक प्रतीत हो सकता है। वस्तुत यह बात नही है। जिस उपकरण से काम लिया जाता है उसके सम्बन्ध मे जितनी ही जानकारी होगी उतना ही उसका उपयोग अच्छा होगा। कुशल चालक अपनी मोटर के कल-पुर्जो की बनावट को भी समझता है। प्रत्येक वाक्य पर रुकने की जरूरत नही है परन्तु जो लोग भाषा जैसे सूक्ष्म यत्र से काम लेना चाहते हैं, उनको चाहिए कि इस प्रश्न का भी अध्ययन करे कि शब्द, वाक्य, और अर्थ मे क्या सम्बन्ध है, किसी वाक्य की सत्यता या मिथ्यात्व की जाँच किन कसौटियो पर हो सकती है, सत्य किसे कहते है, उस जगत् का स्वरूप क्या है जिसके अग श्रोता वक्ता दोनो है तथा उस जगत् मे वक्ता का स्थान क्या है। मूर्ख

और पण्डित सभी बोलते हैं परन्तु भाषा के भीतर विश्व का रहस्य छिपा है।

यह एक रोचक प्रश्न है कि नञात्मक वाक्यों की, उन वाक्यों की जिनके व्यपदेश में 'नहीं' होता है, सत्यता कैसे परखी जाती है। यदि कोई कहे कि 'यह कपडा लाल है' तो इस वाक्य की तो ऐतिह्य परीक्षा हो सकती है परन्तु 'यह कपडा लाल नहीं है' में हम क्या करते हैं। 'लाल नहीं' हरे-पीले की भाँति कोई स्वतन्त्र सत्ता रखता है या लाल का अभाव मात्र है? किसी वस्तु को देखकर हमारे अनुभव का स्वरूप कैसा होता है——'यह पीली है', 'यह हरी है', 'यह श्वेत है', इत्यादि या 'यह लाल नहीं है' 'यह लाल नहीं है, 'यह लाल नहीं है'? यदि 'लाल नहीं' स्वतन्त्र रूप से अनुभवगत नहीं है तो उसका कपडे में व्यपदेश कैसे होता है और जिस वाक्य में वह आता है उसकी सत्यता कैसे जाँची जाती है?

ऐसे भी वाक्य होते हैं जिनके लिये सत्य-असत्य का प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि उनमें वस्तुत कोई व्यपदेश नहीं होता। जानकर या बेजाने, लिखने-बोलने में ऐसे वाक्य बहुत आते हैं। कोई कहता है 'यह जगत् मृगमरीचिका या आद्यन्तहीन रौद्ररस प्रधान नाटक है'। सुनने में वाक्य अच्छा लगता है परन्तु है इसमें केवल शब्दाडम्बर। यदि जगत् को मृगमरीचिका कहा जाता तो एक बात थी, उसे आद्यन्तहीन रौद्ररस प्रधान नाटक कहा जाता तो भी एक बात होती। दोनों अवस्थाओं में हम किसी न किसी प्रकार कथन की सत्यता की परीक्षा करते पर इस 'या' ने सब बिगाड दिया। वस्तुत. इस वाक्य में जगत् के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा गया है, 'या' के द्वारा वक्ता की मानस द्विविधा, अस्थिरता, अनैकान्तता नि सन्देह व्यक्त हो रही है।

हम कह आये हैं कि बहुत से वाक्यों की सत्यता तर्क के द्वारा निर्णीत होती है परन्तु तर्क के मूल में जो सिद्धान्त होते हैं उनकी सत्यता का कोई पुष्ट आधार बताना कठिन है। इसका क्या प्रमाण है कि यदि दो चीजें किसी तीसरी चीज के बराबर हों तो वह एक दूसरे के बराबर होंगी?

किसने सारे विश्व मे इसकी परीक्षा की है? पर यदि यह सार्वभौम नही है तो फिर दूसरे वाक्यो के लिए कसौटी नही हो सकता। इसलिए लेखक और वक्ता को चाहिए कि यथासम्भव ऐसे वाक्यो का प्रयोग न करे जो केवल उसको स्वत सिद्ध प्रतीत होते हो, क्योकि यदि वह दूसरो को भी स्वत सिद्ध प्रतीत न हुए तो फिर वह और उनके आधार पर खडे दूसरे वाक्य असत्य प्रतीत होगे।

कुछ वाक्यो की सत्यता वक्तृसापेक्ष्य होती है। वह सब वाक्य जिनमे अब, वह, यहाँ जैसे आत्मसापेक्ष शब्द आते है इसी वर्ग के होते है। एक का अब दूसरे का तब है, एक का यह दूसरे का वह है, एक का यहाँ दूसरे का वहाँ है। यही गति ऊपर, नीचे, दहिने, बाये, आगे, पीछे की है। इनका प्रयोग करते समय यह ध्यान रखना चाहिए कि पढने या सुनने-वाले के लिये इनके द्वारा बने वाक्यो का अर्थ सत्य नही हो सकता। इन शब्दो से काम लेना ही पडता है पर काम लेने का ढग ऐसा होना चाहिए कि उससे इनकी एकदेशीयता छिप न जाय।

सच बात तो यह है कि ऐसा वाक्य बोलना या लिखना बहुत कठिन है जिसकी सत्यता सार्वभौम, निर्विवाद और निरपेक्ष हो। हम 'साढे तीन' का ग्रहण बुद्धि से कर सकते है वह तीन और चार का मध्य-विन्दु है। इसी प्रकार 'तोला' भी बुद्धि ग्राह्य है पर जब हम किसी सोने के टुकडे के विषय मे यह कहते है कि 'इसका तौल ३॥ तोला है' तो यह वाक्य पूर्णतया सत्य नही है। आज तक ऐसा कोई तराजू नही बना जो ठीक ३॥ तोला बतला सके। जितने ही अच्छे तराजू से हमने काम लिया होगा उतना ही हमारा वाक्य सत्य के समीप पहुँचेगा परन्तु सोने के टुकडे का तोल ठीक ३ ५ तोला न होकर ३ ४ और ३ ६ के बीच मे कही होगा। गोल के परिधि को हम समझने है और व्यासार्ध को भी समझते है। यह भी समझने है कि व्यासार्ध और परिधि की लम्बाई मे कोई निश्चित सम्बन्ध है पर इस सम्बन्ध की सूचना जिस किसी अक से दी जाय वह पूर्णतया सत्य न होगा। इस एक चीज को समय समय पर

३.१६२२७ . अनन्त, ३.१४२८५ . अनन्त और ३.१४१५९ अनन्त से प्रकट किया गया है। इन्द्रिय और यत्र की शक्ति और अधिक बढने से इसी कोटि की कोई और सख्या दी जा सकेगी पर वह भी इदमित्थमेव रूप से ठीक न होगी।

हमने ऊपर इस बात पर बार बार जोर दिया है कि भाषा सार्वजनिक सम्पत्ति है और उसका अर्थ सार्वजनिक अनुभव का विषय होता है परन्तु नये शब्द और पुराने शब्दो के नये प्रयोग को नई कृति भी कह सकते है। वह व्यक्ति विशेष की ओर से समाज को देन होता है। इस कृति की आवश्यकता इसीलिए पडती है कि उस व्यक्ति को कोई ऐसी अनुभूति होती है जिसकी व्यजना किसी विद्यमान शब्द से नही होती। अनुभूति मानस-क्षेत्र मे भी हो सकती है और इन्द्रियगोचर जगत् मे भी। दोनो ही अवस्थाओ मे वह अनुभूति इस द्रष्टृदृश्यात्मक विश्व का अग होगी। पूर्ण ज्ञान तो तब ही हो सकता है जब द्रष्टा को समस्त दृश्य का अपरोक्ष ज्ञान हो, जब, दूसरे शब्दो मे, द्रष्टा और दृश्य का भेद ही मिट जाय। ज्ञान की उस सर्वोच्च भूमिका तक पहुँचने के पहिले जो भी ज्ञान होगा वह अपूर्ण होगा, हम सत्य का जो भी स्वरूप स्थिर करेंगे वह सदोष होगा। जितना ही हमको द्रष्टा के स्वरूप और उसके व्यापार का, दृश्य के स्वरूप और उसके विस्तार का, तथा द्रष्टा और दृश्य की क्रिया-प्रतिक्रिया का बोध होता है उतना ही हमारे ज्ञान की कमी पूरी होती है। प्रत्येक नई अनुभूति हमको पूर्ण सत्य के कुछ निकट ले चलती है। कवि, वैज्ञानिक, योगी, दार्शनिक सभी पृथक् मार्गो से उसी लक्ष्य की ओर बढ रहे है। इस लम्बी यात्रा मे प्रत्येक नया शब्दव्यूह, जो किसी वास्तविक नई अनुभूति के द्योतन के लिए रचा जाता है, प्रगति का सूचक होता है। वह सडक के किनारे लगे उस पत्थर के समान होता है जो यह बतलाता है कि बटोही कितनी दूर चल चुका है। परन्तु उसमे पत्थर से एक विषमता होती है। पत्थर केवल चले मार्ग की नाप बताता है, शब्द नये मार्ग का आदिबिन्दु बन जाता है। विचार की धारा के आग

बढने से नये शब्दो का निर्माण होता है परन्तु प्रत्येक ऐसे शब्द से एक नई विचार-धारा फट पडती है। एक विचार दूसरे विचारो से टकराता है, दोनो मिलते है, एक से दूसरे पर प्रकाश पडता है, इस प्रकार अर्थ मे विशदता, गम्भीरता, विश्वतो मुखता आती जाती है। उधर शब्द भी प्रतिदिन गौण अर्थो को अपनी परिधि मे लेता जाता है। ज्यो-ज्यो उसकी ध्वनि व्यापक होती जाती है त्यो-त्यो उसकी प्रभावक शक्ति बढती जाती है। शब्द और अर्थ की यह समानान्तर वृद्धि मनुष्य को उस ज्ञान की ओर सकेत करती है जिसमे ज्ञाता और ज्ञेय मे भेद नही रह जाता, उस सत्य कीओर बढाती है जिसमे वाच्य वाचक एक हो जाते है।

परन्तु नये अर्थ के लिए नये शब्द का निर्माण करना सुकर नही होता। या तो किसी पुराने शब्द से ही काम लिया जाता है या कुछ पुराने शब्दो को मिलाकर नया शब्द बनाया जाता है या किसी पुराने धातु से व्याकरण के नियमो के अनुसार नया शब्द बनाया जाता है। कुछ भी किया जाय, नया शब्द पूर्णरूपेण नया नही हो पाता, वह जन्म से ही पुराने अर्थ को ध्वनि रूप मे ओढे आता है। आज से सहस्रो वर्ष पहले साँस को प्राण कहते थे। पीछे चलकर एक नई अनुभूति के लिए शब्द की खोज हुई। हमारे सारे शरीर मे नाडियो का जाल बिछा हुआ है। इनके ही द्वारा हमको बाहरी विषयो का ज्ञान होता है और हम बाहरी वस्तुओ पर कोई क्रिया करने के लिये अपनी कर्म्मेन्द्रियो को प्रवृत्त कर सकते है। जब तक यह नाडियाँ प्रस्फुरित होती रहती है तब तक चित्त चचल रहता है। इनमे जो शक्ति दौडती रहती है यदि वह इनमे से खीच ली जाय तो यह स्तब्ध हो जायँगी और चित्त भी बहुत कुछ शान्त हो जायगा। इसी उद्देश्य से योगी अभ्यास करता है। नाडियो मे दौडनेवाली शक्ति के लिए नाम की आवश्यकता थी, किसी अभागी घडी मे उसे 'प्राण' कह दिया गया। तब से आज तक प्राण का पिण्ड न छूटा। योग के आचार्य्य कुछ भी कहे परन्तु सामान्यत यही समझा जाता है कि प्राण का अर्थ

साँस है और उसके लिए मरुत्, श्वास, वायु, पवन, मातरिश्वा जैसे नाम बराबर लिखे-बोले जाते है। एक स्थान से दूसरी जगह जाने को 'चलना' कहते है। हमारा चलना सकल्पपूर्वक होता है। अत इस शब्द से सकल्प-पूर्वकता की ध्वनि निकलती है। अब यदि हम बिजली का चलना, रेल का चलना आदि प्रयोग करते है तो साधारणत यही भावना अव्यक्तरूप से रहती है कि इनके भीतर भी किसी का सकल्प काम कर रहा है। हम जब कोई काम करते है तो ऐसा अनुभव होता है कि पहले चित्त मे सङ्कल्प उठता है फिर पेशियो मे शक्ति का सचार होता है। किसी वस्तु को ऊपर उठाने या गिरने से रोकने मे, पास खींचने या दूर हटाने मे, वस्तु की ओर जाने या वस्तु की ओर से हटने मे, दूरस्थ व्यक्ति को बुलाने मे, शरीर के किसी न किसी अवयव मे शक्ति दौडती है। जब विज्ञान ने ताप, विद्युत्, रसायन, प्रकाश जैसे दृग्विषयो का अध्ययन किया तो उसको एक ऐसे पदार्थ का परिचय मिला जो प्रस्थान भेद से अनेक रूपो मे परिणत होता रहता है और किसी न किसी रूप मे प्राय सभी भौतिक घटनाओ मे विद्यमान रहता है। दुर्भाग्य से उसे 'शक्ति' का नाम दिया गया। ऐसा नाम देने का कारण तो स्पष्ट ही है, पर इस नामकरण ने अब तक विज्ञान के वातावरण को दूषित कर रक्खा है, शरीरचारी शक्ति नाडितन्तुओ और पेशियो के द्वारा काम करती है, शरीर के एक भाग से दूसरे भाग तक पहुँचने के लिए उसे कही भी शून्य मे नही कूदना पडता। बस इसी प्रकार 'शक्ति' शब्द को सुनने से यह भावना होती है कि विश्व मे भी किसी न किसी प्रकार का झीना माध्यम तो सर्वत्र फैला ही होगा। अच्छे-अच्छे विज्ञानाचार्यो ने ऐसे माध्यम की खोज मे वर्षो सिर खपाया है और इसके काल्पनिक गुणो की गाथा गाई है। इतना ही नही, शक्ति के पीछे शक्त और उसका सकल्प होता है, सकल्प के पीछे चेतना होती है। बस, इस एक शब्द के प्रयोग करने से विचार के लिए एक नया क्षेत्र मिल जाता है। शक्ति किस माध्यम मे चलती है, उसका सचार अन्धा, निरुद्देश्य, आकस्मिक है या किसी चेतन व्यक्ति के

संकल्प के अनुसार ? उस व्यक्ति ने ऐसा संकल्प क्यों किया ? क्या वह उसे बदल सकता है ?

पुराने अर्थों के बोझ से न दबने का एकमात्र यही उपाय है कि किसी ऐसे स्वर से काम लिया जाय जो न तो किसी कोष मे मिलता हो न व्याकरण के किसी नियम के अनुसार व्युत्पन्न हुआ हो। लिखते समय भी वर्णमाला के अक्षरो का व्यवहार न करके कोई नया चिह्न निकाल लिया जाय। यदि शक्ति की जगह 'ग्युङ्' या 'प्लुबङ्' या 'व' जैसे किसी स्वर से काम लेते और उसको लिखने के लिए गणित के + — जैसे चिह्नो की भाँति कोई चिह्न बना लेते तो सुविधा होती। इन संकेतो के साथ किसी गौण अर्थ, किसी ध्वनि, का संमिश्रण न होता। यह कोई नई बात नही है। तन्त्र के ग्रथो मे ऐसे संकेतो से बराबर काम लिया जाता है। 'काली शंकर' सुनने से अनेक भावो का उदय होता है परन्तु इनके बीज 'क्री गीं' मे वह बात नही है। भावना के ऊपर उठकर स्वर पर चित्त को एकाग्र करके जप किया जा सकता है। पर ऐसे बीजो से भाषा नही बनती।

एक दो शब्द करोडो मनुष्यो की मनोवृत्ति को बदल सकते है। सभी भारतीय दर्शनो का यह मत है कि जीव अपने कर्म्म का फल भोगता है। किसी शरीर विशेष से जिन फलो का भोग करना होता है उनको 'प्रारब्ध' कहते है। मुसलमानो के साथ 'किस्मत' शब्द देश मे आया। किस्मत में भी प्रारब्ध की भाँति अवश्यम्भोग्यता है पर वह किसी बाहरी शक्ति की इच्छा का परिणाम होती है। प्रारब्धवादी मे आत्मनिर्भरता होती है। किस्मतवाद पराश्रय सिखलाता है, धीरे-धीरे हमारे यहाँ प्रारब्ध की जगह, कम से कम उसके साथ-साथ, किस्मत का भी व्यवहार होने लगा और भाग्य या प्रारब्ध का अर्थ किस्मत जैसा ही होने लगा। इसी से लोग ऐसा कहने और मानने लगे- होइहि सोइ जो राम रचि राखा। को करि तर्क बढावै शाखा। यह वाक्य अशास्त्रीय, धर्म्म-विरुद्ध है पर विद्वान् लोग भी इसे या इसी के समान दूसरे वाक्यो को पढते-पढाते है। यह वस्तु-

स्थिति हमारी अवनतिशील मानस अवस्था का कारण और कार्य्य दोनो है। एक दूसरा शब्द लीजिये। सारे ऋग्वेद मे 'ईश्वर' शब्द नही मिलता। यदि श्रोतवाङमय मे कही आ भी गया है तो रुद्र के अर्थ मे, इसीलिए वेद की मीमासा करनेवाले जैमिनि ईश्वर के अस्तित्व को नही मानते और परम आस्तिक कपिल भी ईश्वर की सत्ता को असिद्ध कहते हैं। योग-दर्शन का ईश्वर जगत् का रचयिता और पालयिता नही है, न्याय का ईश्वर जगत् का आरम्भक है परन्तु वह स्वभावत जीवो के कर्म्मो के विरुद्ध नही जाता। इसी लिए पहले परमात्मा शब्द का व्यवहार अधिक होता था। हिन्दुओ के राजनीतिक और सास्कृतिक पतन के साथ-साथ ईश्वर का व्यवहार बढा क्योकि मुसलमानी 'खुदा' के जोड मे यही बैठ सकता था। शब्द के साथ अर्थ भी आया। ईश्वर का अर्थ है स्वामी, मालिक। यह शब्द भी व्यवहार मे आने लगे। मै यदि अपने घर का स्वामी हूँ तो उसमे जो चाहूँ कर सकता हूँ। इसी प्रकार यदि कोई ईश्वर है तो वह जगत् मे जो चाहे कर सकता होगा। इससे यह परिभाषा बन गई कि ईश्वर 'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुम् समर्थ' है जो चाहे करे, न करे, उलट दे। अब जगत् ऋत और सत्य रूपी अटल नियमो के अधीन न होकर एक सर्वशक्तिमान ईश्वर के अधीन माना जाने लगा। यदि मै स्वामी हूँ तो अपने भृत्यो को उनके काम का उचित पारिश्रमिक भी दे सकता हूँ, किसी पर विशेष रूप से प्रसन्न होकर उसे अधिक पुरस्कार भी दे सकता हूँ, यदि मेरे पास धन है तो इतना भी दे सकता हूँ कि फिर उसे नौकरी करने की आवश्यकता ही न पडे। इसी भाँति जब जगत् मे एक ईश्वर है तो जीव उसका दास, सेवक, किकर है। पिछले चार-पाँच सौ वर्षो की स्तुतियो मे इन शब्दो की भरमार है। वेद मे सहस्रो स्तोत्र है पर उनमे कही ऐसी दीनता, ऐसा नाक रगडना नही देखा जाता। ईश्वरवादी की बुद्धि मे ऐसी दुर्बलता भर जाती है। वह अपने पाँव पर खडा होना भूल जाता है। ईश्वर कर्म्म का फल तो देता ही है पर जिसकी चाटुकारिता पर रीझ जाय उसको क्षण भर मे सब दुखो के ऊपर उठा सकता है,

जीवनमुक्त बना सकता है। सत्कर्म्म अच्छी चीज है पर उससे बढकर महत्व इस बात का है कि हाथ जोडकर, दीनता दिखलाकर, उस ईश्वर को प्रसन्न किया जाय। वह खडे-खडे बडे से बडे पापो को क्षमा कर सकता है। इसलिए कर्म्म-सिद्धान्त ऊपर से तो बना रहा पर उसकी जड कट गई। लोगो मे आत्मनिर्भरता की मात्रा कम हो गई। यह धारणा बँध गई कि आजकल के लोग ज्ञान और योग के अधिकारी नही है। यह दो शब्द उदाहरण मात्र है। ऐसे और भी प्रयोग मिलेगे। अँगरेज सरकार ने भारतीयो के लिए 'नेटिव' जैसे जुगुप्सासूचक शब्दो का निरन्तर प्रयोग करके भारतीय जनता के चित्त मे बहुत दिनो तक यह धारणा दृढ कर दी थी कि भारतीय अँगरेजो से छोटे और नीचे होते है।

भाषा की शक्ति का यह दिग्दर्शन मात्र है। पानी मे पत्थर फेकने से जो लहर बनती है उसका घेरा बढता ही जाता है, इसी प्रकार शब्द की ध्वनि, उसका अर्थविस्तार बढता जाता है। लिखने की कला ने भाषा की शक्ति को और भी बढा दिया है। कुशल प्रयोक्ता के हाथो मे भाषा अमोघ शस्त्र का काम देती है। इसलिए बोलनेवाले को, शब्द निर्माण करनेवाले को बहुत ही सतर्क रहना चाहिए। नया शब्द, शब्द का नया प्रयोग, ज्ञान और सस्कृति के क्षेत्र मे अपरिमित परिवर्तन कर सकता है। वह ऊपर उठा सकता है और नीचे गिरा सकता है, हृदय को सङ्कोच की ओर ले जा सकता है और औदार्य्य की ओर ले जा सकता है, नानात्व मे एकत्व का दर्शन करा सकता है और एकत्व को नानात्व से दबा सकता है। भाषा भ्रान्ति भी उत्पन्न करती है और सत्य की झलक भी देती है इसीलिए वाणी के प्रयोक्ता का बहुत बडा दायित्व है। आज, जब कि हम भारत मे सस्कृति के नये उप काल के प्रभाक्षेत्र मे प्रवेश कर रहे है, प्रत्येक विद्वान्, प्रत्येक विचार प्रवर्तक, प्रत्येक कवि को अपने इस दायित्व का सतत स्मरण रखना चाहिए।

मैने भाषा-सम्बन्धी दार्शनिक समस्याओ की ओर सकेत करते हुए सत्य और मिथ्या का कोई लक्षण नही बतलाया था। यह प्रश्न है भी

बहुत गहन परन्तु कोई भी कवि, अर्थात् कोई भी ऐसा व्यक्ति जो साहित्य की सृष्टि करना चाहता है, इस ओर उपेक्षा भाव नही रख सकता। परमात्मा को वेदो ने पुराण कवि कहा है। काव्य-रचना करते समय कवि अपने छोटे क्षेत्र मे वही काम करता है जिसे हिरण्यगर्भ विश्व मे करता है। असत् से सत् की उत्पत्ति नही हो सकती। जगत् का बीज पहले भी था परन्तु अपने ज्ञानरूपी तप से उसका साक्षात्कार करके हिरण्यगर्भ उसको विस्तार देता है। कवि भी यही करता है। वह भी उसी तथ्य को अभिव्यक्ति देता है जो उसको बाह्यजगत् और अन्तर्जगत् के एकनिष्ठ अध्ययन रूपी तप के द्वारा अनुभूत होता है। कवि कल्पना से काम लेने का अधिकार रखता है परन्तु कल्पना निरकुश न होनी चाहिए। उसका लक्ष्य भी सत्य ही होना चाहिए। एक बात और स्मरण रखने योग्य है। जगत् मे करोडो वस्तुएँ है, करोडो घटनाएँ होती रहती है। उनका यथातथ्य चित्रण कर देना, फोटो खीच देना ही सत्योपासना नही है। इतना ही काम कवि का नही है, केवल बुराइयो को सामने ला देनेवाला तो गाधी जी के शब्दो मे नाली साफ करनेवाला दारोगा है। चित्रण हो, कल्पना की जाय, पर क्यो ? इसका उत्तर महाभारत की यह पक्ति देती है यल्लोकहित-मत्यन्त, तत्सत्यमिति न श्रुतम्। यही बात सौन्दर्य्य के सम्बन्ध मे है। कहा जाता है कि कवि सौन्दर्य की सृष्टि करता है। ठीक है, प्रकृति भी सौन्दर्य की सृष्टि करती है। परन्तु प्रकृति ऋत और सत्य की परिधि के बाहर नही जाती। जगत् के मूल मे जो तत्व है उसको सत्यम्, शिवम् और सुन्दरम् कहा गया है। जो सत्य नही है वह सुन्दर नही है और जो शिव नही है वह सत्य नही है। जिससे तू मैं का विरोध क्षीण होता है और अभेद-भावना की पुष्टि होती है वही शिव है। लेखनी रूपी महास्त्र का प्रयोग करते समय, भाषारूपी महामत्र से काम लेते समय, इसका सतत ध्यान रखना चाहिए। यही विद्वान्, वक्ता और कवि का दायित्व है। इस सम्बन्ध मे एक और बात अविस्मरणीय है। जान-बूझकर वितथ का प्रचार करना, लोभ, क्रोध या भय के दबाव मे आकर अयथार्थ बात

कहना घोर अशिव है। भाषा का ऐसा प्रयोग पाप है और ऐसी कृति वाग्देवता के शाप से त्रिकाल मे दूषित रहती है।

हम जिन शब्दों से काम लेते है उनकी शक्ति परिमित प्रतीत होती है परन्तु पुराकाल के आचार्यों ने इस परिमितता की जो परिधि कल्पित की थी वह आज से बहुत बडी थी। उनका कहना था कि "एक शब्द सम्यग् ज्ञात शास्त्रान्वित सुप्रयुक्त स्वर्गेलोके कामधुग्भवति" सम्यक् ज्ञान, शास्त्रान्वित, सुप्रयुक्त एक शब्द स्वर्ग और लोक मे कामधेनु होता है। साधु प्रयोग पर उनका बहुत जोर था। साधुता का लक्षण यह बतलाया जाता है 'व्याकरण व्यग्योऽर्थविशिष्टशब्दनिष्टपुण्यजनकताऽवच्छेदको जाति-विशेष' शब्द साधु तब होता है जब वह शिष्ट पुरुषो की पद्धति का अनुसरण करके उस अर्थ के द्योतन के लिए प्रयुक्त होता है जो व्याकरण-सम्मत है और उससे व्यञ्जित होता आया है। ऐसा प्रयोग पुण्यजनक माना जाता है। मनमाना प्रयोग करने से साधुता नष्ट हो जाती है। इसको यो कह सकते है कि साहित्य मे परम्परा टूट जाती है और इस बात का विश्वास जाता रहता है कि कोई भी कृति अपने रचयिता के भाव को कुछ काल पीछे आनेवालो तक पहुँचाने मे समर्थ हो सकेगी। आजकल, साधु-असाधु प्रयोग के प्रश्न का महत्त्व इसलिए बहुत बढ गया है कि हमारी भाषा पर इस समय बडे जोरो के साथ विदेशी प्रभावो का आक्रमण हो रहा है। हममे से बहुतो की शिक्षा अँगरेजी मे हुई है, सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक परिस्थितियो के कारण हमारे मानस-जगत् मे सतत उथल-पुथल मची रहती है, हमारा सास्कृतिक सम्पर्क प्राची और प्रतीची, अतीत और वर्तमान के सभी प्रान्तभूमियो से है। जीवन का साहित्य मे प्रतिबिम्बित होना अनिवार्य है। हमको नये भावो को व्यक्त करने के लिए नये शब्दो, नये छदो, नई शैलियो की आवश्यकता प्रतीत हो रही है। यह विकास स्वाभाविक है क्योकि यह हमारे बौद्धिक विकास की प्रतिच्छाया है। परन्तु इसके साथ ही सतर्क रहने की भी बडी आवश्यकता है। प्रत्येक नया विचार उपादेय नही होता। समझदार मनुष्य

समीक्षा करके ही नये विचारो को अपनाता है। विचार के अपनाये जाने का प्रमाण यह होता है कि उसका नयापन जाता रहता है और वह सम्यग्जीर्ण भोजन के समान अन्य विचारो और सस्कारो के साथ मिलकर एक हो जाता है। जब तक ऐसा नही हो पाता तब तक चित्त मे अशान्ति रहती है। आज ऐसे बहुत से लोग मिलेगे जो अपने वैज्ञानिक ज्ञान को अपने साम्प्रदायिक सस्कारो से मिलाकर एक करने मे असमर्थ होने के कारण दुखी रहते है।

विचारो की अस्तव्यस्तता भाषा मे भी प्रतिबिम्बित होती है पर यह बात ध्यान मे रखनी चाहिए कि प्रत्येक नया प्रयोग उपादेय नही होता। पुराने प्रयोगो, पुरानी शिष्ट शैलियो, को छोड़ देना स्वाधीनता भले ही हो परन्तु हर स्वाधीनता तो अच्छी नही होती। स्वाधीनता वही तक अच्छी होती है जहाँ तक कि वह स्वेच्छाचारिता और उच्छृङ्खलता का दूसरा नाम नही बन जाती। जो स्वाधीनता साहित्य साहित्यपर्न को तोडती है वह अच्छी नही। भाषा मे जो प्रयोग केवल विदेशी प्रयोगो के अनुकरण के लिए, केवल नयेपन के लिए किये जाते है वह असाधु है। हमारे प्रमाद से भी कई विदेशी प्रयोग भाषा मे घुसकर उसको भ्रष्ट कर रहे है। यह विदित-अविदित भूले भाषा की शक्ति को कुण्ठित करती है। हर लेखक को इस सम्बन्ध मे सतर्क रहना चाहिए अन्यथा उसकी कृति हमारे वाङमय के साथ एकीभाव, तन्मयता प्राप्त न कर सकेगी और उस सत्य का यथार्थ अभिव्यजन भी दीर्घकाल तक न कर सकेगी जिसको उद्दिष्ट करके उसकी सृष्टि हुई थी।

भाषा मे शक्ति शब्दो से और विषय से आती है परन्तु शक्ति का सब से बडा स्रोत लेखक का अन्त करण है। जिस कृति को सत्य के दर्शन और लोक के मङ्गल की कामना से स्फूर्ति मिली है वह सजीव और शक्तिमान होगा; जिसकी प्रेरणा किसी अन्य प्रकार मे हुई है वह अपनी निर्वीर्यता के बोझ मे सदा दबा रहेगा।

—

[illegible]

लेखकों, कवियों और कलाकारों से निवेदन

हम लोग जो कवि, कलाकार और लेखक हैं, इस बात पर गर्व करते हैं कि हम विचारजगत् के निवासी हैं। यह जगत भूर्लोक से बहुत ऊँचा, बहुत दूर है। यहाँ उन वासनाओ, उन रागो और द्वेषो की पहुँच नहीं होती जो मानव-जीवन को कलुषित बना देते हैं। पृथिवी पर समर और महासमर होते रहे, अबलाओ के माथे का सिंदूर पुँछता रहे और बच्चे दूध के लिए तडप-तडपकर मरते रहे, निर्धन की पीठ बेतो से लाल होती रहे और स्वाधीनता के नाम पर दुर्बलो के गलो मे पराधीनता की शृङ्खला पडती रहे, परन्तु जिस देश के हम नागरिक है वहाँ तक इस विक्षोभ की पहुँच नही है। वहाँ चिरशान्ति का अखण्ड साम्राज्य है। हममे देशकाल का बन्धन नही है। हमारे सनागरिक अमर है। उशना, वाल्मीकि, व्यास, कालिदास, भवभूति, माघ, गुणाढ्य, होमर, फिरदौसी, शेक्सपियर, गेटे, उमरखय्याम, हाफिज, सूर, तुलसी, दान्ते, कबीर इन सब की बराबर गोष्ठी होती रहती है। भला उस चिर सुन्दर, चिर सत्य जगत् को छोड कर हम इस पतित भूर्लोक का गीत क्या गाये? कभी-कभी हम अपने को रोक नही पाते, तब जिस लोकोत्तर आनन्द का आस्वाद हमको ऊपर मिलता है उसका कुछ वर्णन स्वान्तः सुखाय यहाँ वालो के लिए भी कर देते है, उसका कुछ आभास यहाँ तक पहुँचा देते है। किसी को हमसे इससे अधिक आशा रखने का अधिकार नही है। हम शाश्वत तत्त्वो के द्रष्टा है, पथिवीतल पर के दैनंदिन झगडो मे पडकर, उनकी ओर दृष्टि-पात करके, अपनी प्रतिभा को कलुषित नही कर सकते। निर्मल आकाश मे विहार करनेवाली कल्पना के धवल पख यहाँ पसीने और लहू के कर्दम

के स्पर्श से अपवित्र हो जायँगे। कहॉ हृदय के कोमल तारो का मधुर स्वर और कहॉ निदाघ के चण्डवायु से प्रताडित नगो-भूखो के कङ्कालो की कडकेडाहट !

सुन्दर स्वप्न है पर है स्वप्न ही। हम भीरु है, कायर है, इसलिए हठात् अपनी ऑखे बन्द रखते है, वस्तुस्थिति को देखना नही चाहते, स्वप्न देखते रहना चाहते है। पर यह अन्धेर कब तक चलेगा ? स्वप्न मे देखी बातो का वर्णन कहॉ तक बढाया जायगा ? उससे बच्चो को डराया जा सकता है, थोडी देर के लिए वयस्को का भी मनोरञ्जन किया जा सकता है पर उसमे टिकाऊपन नही हो सकता। उसकी नीव पर जो भीत खडी होगी वह चार दिन मे ढह जायगी। हम भले ही कालिदास और शेक्सपियर की दुहाई दे पर वह अमर कवि हमको अपना सना भि नही मान सकते। इसका कारण यह है कि वह वास्तविकता मे चूडान्त डूबे हुए थे और हम उससे कोसो दूर भागते है। यह बात नही है कि हमारी दृष्टि मे जगत् की नग्न वास्तविकता कभी आती ही नहीं। आती है, नि सन्देह आती है और जिसकी बुद्धि जितनी ही सूक्ष्म होती है उसको उतना ही अधिक सताती है। ऑख की पुतली मे मकडी का पतला जाला भी गडता है। हम भी भूखो को तडपते देखते है। हम भी नगो को ठंड से सॉस तोडते देखते है। श्रमिक का शोषण हमारी ऑखो के सामने भी होता है। जिनका एकमात्र अपराध यह है कि वह अपने देश को स्वतत्र और अपने देशवासियो को मनुष्य बनाना चाहते है उनको हमने जेलो मे भरे जाते देखा है, हमारे सामने उन पर बेत और लाठियॉ पडी है, गोलियां बरसी है, उनके धन लुटे है, उनके निराश्रय कुटुम्बी भिखारी हो गये है। कुछ लोगो की कोठियॉ धनधान्य से भरपूर रहे इसलिए करोटों के घर उजाडे जाते है। जो दरिद्र और दलित थे, है और रहेगे उनको स्वाधीनता, लोकतन्त्र और विश्व-शान्ति के नाम पर समराग्नि मे बरसाती कीडो की भॉति झोका जाता है। और यह सब हमारे सामने होता है। पुस्तको के, समाचारपत्रो के,

रेडियो के द्वारा निर्दयता, प्रतिहिंसा, असहिष्णुता की धारावाहिक शिक्षा दी जा रही है, असत्य का दुर्भेद्य वायुमण्डल जन-साधारण की बुद्धियों को दबाये डाल रहा है। और हम यह सब देख रहे हैं।

हम सब कुछ देखते हैं, सब कुछ सुनते हैं, फिर भी चुप रहते हैं, क्योंकि जिन लोगों को इस सारे दुष्ट व्यापार से लाभ हो रहा है उनके यहाँ से दो चार टुकड़े हमको भी मिलते रहते हैं। रेडियो पर हम ही या हमारे वह भाई जो व्यासपीठ पर बैठकर अध्यापन के काम में प्रवृत्त हैं बोलते हैं, पत्रकार हम ही हैं, चित्रकार हम ही हैं, पुस्तक रचयिता हम ही हैं। शासक और पूँजीपति चाहे जैसे हों पर हमारे गुणों के ग्राहक हैं। हममें से जिस किसी को उनकी कृपा नहीं प्राप्त होती वह अविलम्बेन नंगों भूखों की कोटि में जा पड़ता है। जिस पद्धति से हमारा पोषण हो रहा है उसे आपातत सदोष कैसे कहा जाय? पूँजीवाद और साम्राज्यवाद के समर्थक कहते हैं कि जगत् अविराम जीवन-संग्राम का क्षेत्र है। जो योग्य है वह जीतता है, जो अक्षम है वह हारता है। यही मनुष्य जाति की उन्नति की कुञ्जी है। हमको इस कथन में वैज्ञानिक सत्य प्रतीत होता है। यह जो पतित, दलित, शोषित, पीड़ित, दण्डित प्राणी हैं वह जीवन-संग्राम में हारे हुए सैनिक हैं। इनकी यह गिरी अवस्था इनकी अक्षमता का प्रमाण है। हम और हमारे पीठ पर हाथ रखनेवाले धनी-मानी विजेता, मानवजाति के अग्रणी, कुशलकर्मा व्यक्ति हैं। हम निकम्मों पर दया कर सकते हैं परन्तु उनको अपना उपास्य नहीं बना सकते। और फिर इस व्यवस्था से उलझकर होगा भी क्या? प्रारब्ध कहिए, नियति कहिए, अन्धप्रकृति कहिए, द्वन्द्वात्मक विकास के अकाट्य नियम कहिए, चाहे जो नाम दे लीजिये, चाहे जो मत स्वीकार कीजिये, पर जो होना है वह होकर रहेगा। फिर इस पत्थर की दीवार से सिर टकराना कौन-सी बुद्धिमत्ता है? हम इससे उलझकर अपनी क्षति तो कर सकते हैं पर जगत् जैसा है वैसा रहेगा। जो अदृश्य शक्तियाँ इसका सञ्चालन कर रही हैं वह समय आने पर इसे आप ही बदल देंगी। एक और बात

है। काजल की कोठरी मे कैसा भी सयाना जाय, काजल की लीक लगा ही जाती है। यदि हम दलितों और शोषितो के पङ्किल क्षेत्र मे उतरे तो फिर हमारा आदर्श भी ठीक न रह सकेगा। हमारा पवित्र अधिकार और कर्तव्य यह है कि सस्कृति की निर्मल पताका ऊँचे पर उडती रहे। जनता तो सहस्रशीर्षा पशु, करालदष्ट्रा महावृक है। उसमे सरसता, भावुकता, सस्कृति कहाँ ? उसके अति सम्पर्क मे आने से हम भी गिर जायँगे और जो निधि सहस्रो वर्ष से सुरक्षित चली आई है वह लुप्त हो जायगी। बस, कुछ इसी प्रकार हम अपने को समझा लेते है। मै यह नही कहता कि सब लोग इन्ही शब्दो मे तर्क करते है। कोई कोई ऐसा भी करता होगा। परन्तु हममे से बहुतो को इतना करने की भी आवश्यकता नही होती। हमारा काम इस जगत की वर्तमान व्यवस्था से किसी प्रकार चला जा रहा है। अत हमारी स्वार्थबुद्धि इसका समर्थन करती है, कम से कम, हमको इसका विरोध नही करने देती। हमारी स्थिति उस लोभी पुरोहित जैसी है जो यजमान को पापी और अनधिकारी जानता हुआ भी दक्षिणा की लालच से उसके यज्ञ मे भाग लेता है।

फिर भी हम मनुष्य है और सहृदय है, इसलिए चारो ओर के करुण दृश्यो का प्रभाव पडे बिना नही रहता। फिर हममे अपने भावो के व्यक्त करने की योग्यता भी है। जी नही मानता, कुछ कहे विना रहा नही जाता। इसलिए हम कभी-कभी कुछ लिख डालते है, कह डालते है। हमारी रचनाओ मे भी उस हाहाकार की, जो सहृदयो के मर्म को वेधे डालता है, कुछ भीनी प्रतिध्वनि सुन पड जाती है। कुछ वेदना, कुछ क्रन्दन, कुछ अन्तर्दाह, कुछ अशान्ति, कुछ आशा की झलक हमारी कृतियो मे भी मिल जाती है परन्तु अस्फुट, ढँकी हुई। हृदय का वेग मर्यादाओ को नही मानता परन्तु हम सभ्यता और शील को हाथ से नही जाने देते। कुछ पीड़ित के साथ समवेदना दिखलाते है, कुछ प्रपीडक की भर्त्सना करते है, कुछ क्रान्ति का आह्वान करते है, कुछ क्षितिज पर नवयुग की रेखा ढूँढते है। इससे अपने चित्त का बोझ हल्का हो जाता है और सार्विकार पक्ष

भी बहुत स्पष्ट नहीं होता। इतना तो उसे भी पसन्द है कि मनोऽनुभूति की थोड़ी बहुत अभिव्यक्ति होती रहे। राजा लोग अपने यहाँ विदूषक रखते थे और उनके मुँह से थोड़ी-बहुत खरी-खोटी भी सुन लिया करते थे।

पर इतने से भी काम नहीं चलता। एक तो बाहर के असङ्कुल दृश्य हमारे कवच को भेदकर टीसते रहते हैं, दूसरे कला के लिए विषय भी तो चाहिए। बिना विभाव के तो रस की सृष्टि होती नहीं। बस इसी लिए हम इस भूर्लोक को छोड़कर ऊपर विचार-जगत् में जा बसते हैं। वहाँ जो कुछ है, सुन्दर है, नित्य है। पुरुष मरते हैं, स्त्रियाँ मरती हैं, उनकी रतिलिप्सा मरती है, कामक्रीडा मरती है परन्तु कवि जिस प्रेम के गीत गाता है वह कभी नहीं मरता। हृत्तन्त्री के टूटे तारों की झनकार भी लाख-लाख दुखितों के आर्तनाद को दबाने में समर्थ होती है। यह विचार-जगत् कृत्रिम, काल्पनिक है परन्तु यही इसमें सुविधा है। वास्तविक जगत् में विचार को वस्तु-स्थिति से टकराना पड़ता है। इस मुठभेड़ के बाद बहुत से विचारों के शव इधर-उधर पड़े होते हैं। परन्तु काल्पनिक मैं भूल करता हूँ, कल्पनामय जगत् में यह कठिनाई नहीं है। वहाँ विचार स्वच्छन्द घूमते हैं। जो भौतिक जगत् से जितना ही दूर जा पड़े वह उतना ही बड़ा कलाकार है। व्यास, वाल्मीकि, कालिदास, शेक्सपियर, गेटे, टेनिसन प्रकृति को छोड़ नहीं पाये थे। वह कमल और नदी और सरोवर, चातक और पपीहा और भ्रमर को भूल नहीं सकते थे। हम इन चीजों की ओर आँख उठाकर नहीं देखते। ज्योत्स्ना तो कभी-कभी हमारी खिड़कियों में से भीतर चली आती है परन्तु नक्षत्र-मण्डल के उदयान्त के अस्तित्व को हम स्वीकार नहीं करते। पशु पक्षियों को हमारी कला में स्थान नहीं है। वह प्राणिशास्त्र के विद्यार्थियों के अध्ययन की सामग्री है। हम उस पार की धवल भूमि की कुछ रूपरेखा यहाँ वालों को दिखाना चाहते हैं, इसीलिए कला की सृष्टि होती है परन्तु कला ही कला की कसौटी है।

हम मानने वालों का यही तर्क है। हमको यह बात नहीं देख पड़ती

कि हमारे इस विचार-जगत् मे उडने की उपयोगिता इतनी ही है जितनी कि अफीम घोलने की। अफीम से भी दुख भूल जाते है। हमारा यह दावा झूठा है कि हम अपने विचार-जगत् मे सौन्दर्य की अनुभूति प्राप्त करते है। सत्यम्, शिवम् और सुन्दरम् को एक दूसरे से पृथक् नही किया जा सकता। जो सुन्दर है वह सत्य भी है और शिव भी है। इसीलिए सत्काव्य रचना के उद्देश्यो मे 'शिवेतरक्षति' अमङ्गल की क्षति भी परिगणित है। केवल स्वान्त सुखाय तो होली की गाली बकी जाती है। परम सत्य, परम सुन्दर का साक्षात्कार मत्रद्रष्टा ऋषियो को हुआ था, व्यास को, श्रीकृष्ण को हुआ था, बुद्ध और महावीर और शकराचार्य्य को हुआ था, कबीर और नानक और चैतन्य को हुआ था, ईसा और सेण्ट फ्रांसिस को हुआ था। उस सत्य मे अनन्त सौन्दर्य है, रसो वै स वह अपरिमेय प्रेम और वीर्य्य, करुणा और शान्ति का अगाध पारावार है। और वह निशेष शिव है। जो उसके समीप पहुँचता है वह अकर्मण्य नही रह सकता। निबलो और दुखियो का त्राण उसका सहज व्यापार हो जाता है। यदि आपको भी उसी सत्य की, उसी तत्व की जो इस परिवर्तनशील जगत् का शाश्वत मूल है, कुछ झलक देख पड गई है तो फिर आप भी लोकहित के कर्मठ सैनिक होगे अन्यथा हमको ऐसा मानना पडेगा कि आप किसी माया-मरीचिका को मानसरोवर समझ बैठे है। सत्यद्रष्टा युद्ध-क्षेत्र छोडकर भागता नही। उसमे जो श्रद्धा, जो स्मृति, जो वीर्य्य, जो वासनाविरह, जो स्फूर्ति ऊपर से आती है उसका लाभ नीचेवालो को मिलता है। प्रतिभा उस वटवृक्ष के समान है जिसकी जड भूतल के नीचे होती है और चोटी बादलो से खेलती है, उसमे भूगर्भ से रस आता है और सूर्य्य तथा वायु से प्राण। वह जहाँ तक बद्ध है वही तक उन्मुक्त भी है। स्वच्छन्द आकाश मे विचरने का अवसर न मिलने से वृक्ष रोगी हो जाता है परन्तु पृथ्वी से जड कट जाने से उसकी मृत्यु हो जाती है।

यह न कहिये कि आप इस बात को सिद्धान्तरूप से मानते है। जिस

समय चारो ओर आग लगी हो उस समय 'आग बुझाना अच्छा है' इतना सिद्धान्तरूप से मानना पर्य्याप्त नही होता। करुण रस की उद्दीप्ति के लिए रोम मे आग लगवाने वाला नीरो भी सिद्धान्तरूप से आग बुझाने को श्रेयस्कर मानता रहा होगा। सच्ची परख तो यह है कि आप आग लगाने वालो से लड रहे है या नही और आग बुझाने मे लगे है या नही। कोई तीसरा मार्ग नही है। एक ओर प्रपीडक, शोषक है दूसरी ओर ओर पीडित, शोषित, एक ओर नर-कङ्कालो की पीठ पर उन्मत्त नृत्य, दूसरी ओर भूख की ज्वाला से मरनेवालो की राख के ढेर, एक ओर अधिकार और सम्पत्ति का अट्टहास, दूसरी ओर पिसनेवालो का हाहाकार, एक ओर बलावलेप से अन्धीभूत राष्ट्रीयता और साम्राज्यवाद, दूसरी ओर दीनता और परतन्त्रता, एक ओर दानवता, दूसरी ओर मनुष्यता। इस लडाई मे तटस्थता के लिए जगह नही है। आपको दो मे से एक सेना का साथ, सक्रिय साथ, देना है, लडना है।

यदि आप वर्तमान अवस्था को ठीक समझते है तो ऐसा खुलकर कहिए। आप सुखी होगे। जो आज हमारे भाग्य-विधाता है वह आपका स्वागत करेगे, आपकी कला को ग्राहक मिलेगे। आपके लिए लक्ष्मी, सरस्वती का पुराना कलह शान्त हो जायगा। परन्तु यदि आप ऐसा मानते हो कि प्रत्येक मनुष्य को आत्माभिव्यक्ति का अधिकार है, सबको अपनी योग्यता के विकास का अवसर मिलना चाहिए, मनुष्य द्वारा मनुष्य का शोषण जघन्य है और पृथिवी पर से पराधीनता मिट जानी चाहिए तो फिर आपको इस बात की घोषणा करनी चाहिए। ऐसी घोषणा करने का अर्थ है काटो का वरण करना। आप श्रीमानो का सम्मान खो बैठेगे और आपकी कला दबाई जायगी। सरकारे आपके विरुद्ध होगी। दरिद्रता, परिवाद, उपहास, कारावास और फाँसी का पुरस्कार मिलेगा। आप सोच ले, आप किसे पसन्द करते है। एक ओर सुख है, दूसरी ओर तप। 'दिल्लीश्वरो वा जगदीश्वरो वा' कहनेवाले कलाकार बहुत है, तोप और सिहासन और रुपयो की थैलियोवाली सेना को लडैतो की कब कमी

पड़ती है परन्तु भारती का प्यारा तो इन बातो की ओर नही देखता। वह तो सत्य मात्र को जानता और पुकार पुकारकर कहता है। सूली की सेज पर लेटा हुआ समंद के शब्दो मे गाता है

शुद देर कि अफसानए मसूर कुहन शुद।
वक्तस्त कुनूँ जल्व देहम दारोरसनरा॥

अनलहक (अहं ब्रह्मास्मि) रूपी सत्य की घोषणा करने के लिए मंसूर को जो फाँसी दी गई थी उसको बहुत दिन हो गये। अब वह समय आया है कि मै (फाँसी पड़कर) फाँसी के तख्ते और रस्सी को गौरव प्रदान करूँ।

मै फिर कहता हूँ कि यह तटस्थ रहने का, मौन रहने का समय नही है। मीठी बातो का भी समय नही है। जहाँ गलो पर छुरियाँ फेरी जा रही हो वहाँ मधुर उपालम्भ से काम नही चलता।

यह न भूलिये कि मैने विचार-जगत् को असत् नही कहा है। मै भी मानता हूँ कि इस धूलिधूसर व्यवहार-जगत् के सिवाय, इससे ऊपर, एक विचार-जगत् है जो सत्य है, जो इसकी अपेक्षा ध्रुव है। मै भी मानता हूँ कि उसमे रमण करना चाहिए। मै भी मानता हूँ कि उसका सन्देश यहाँ वालो को सुनाना चाहिए। मै भी मानता हूँ कि सब उसमे प्रवेश करने के अधिकारी नही होते। मै भी मानता हूँ कि कलाकार को वहीं से स्फूर्ति मिलती है। पर इसके साथ ही मै यह भी मानता हूँ कि वह इस भौतिक, जनसकुल सघर्ष और दुःख के आकर जगत् से नितान्त भिन्न, नितान्त पृथक् नही है। मै ऐसा मानता हूँ कि युद्ध छोड़कर भागनेवाले उस जगत् मे नही घुस सकते। मै ऐसा मानता हूँ कि वहाँ वही जा सकता है जो तपस्वी और त्यागी है, जो लोक-सग्रह व्रती है, जो सत्यसन्ध है। वैदिक ऋषि रोदसी, द्यावा पृथिवी का एक साथ संकीर्तन करता है। पैसे का एक पृष्ठ दूसरे से कैसे अलग किया जा सकता है? मेरा कहना यह है कि यदि हममे से कोई किसी ऐसे विचार-जगत् म

भ्रमण करता हूँ जहाँ इस जगत् के छींटे नही पडते तो वह भ्रम मे है। ऐसा कोई जगत् नही है। इस जगत् की अनुभूतियाँ उस जगत् की ओर उठाती है और उस जगत् की अनुभूतियाँ इस जगत् के बोझ को हल्का करती है। एक और बात है। उस जगत् मे सत्य है, सौन्दर्य है पर उस सत्य और सौन्दर्य का प्रत्यक्ष इस जगत् की उपेक्षा करके नही हो सकता। जब चारो ओर बर्बरता, सघर्ष, क्रन्दन, अशान्ति होगी तो कला की उपासना क्या होगी? भूखे पेट तो भगवद्भजन भी नही होता। भ्रष्ट परिस्थिति मे ऊँची कला कैसे अवतरित हो सकती है? आज हम रीति-कालीन कविता की निन्दा करते है। हमको इस बात पर आश्चर्य होता है कि प्रतिभाशाली मनुष्य कैसे ऐसी लचर रचना कर गये। पर उन लोगो का क्या दोष था? उस समय हिन्दू परतत्र थे। सामान्य जनता को मुगल और पठान शासक, इन शासको की छत्रछाया मे पनपनेवाले हिन्दू राजे-महराजे और इन राजो-नवाबो के सङ्केत पर थिरकनेवाले जागीरदार सर्दार पीस रहे थे। तत्कालीन कवियो ने इस परिस्थिति को, जो नि सन्देह परिवर्तनशील चीज थी, उपेक्षा की दृष्टि से देखा और अमर तत्त्वो को हृदयङ्गत किया। उन्होने भी प्रेम के गीत गाये, श्रीराधाकृष्ण जैसे पुनीत, शाश्वत, धीरोदात्त आलबनो को अपनाया। कभी-कभी राजा-महाराजो की निन्दा भी कर दी। फिर भी आज उनकी रचना हमको थोथी लगती है। वह भूर्लोक की दीनता, दासता, कुचली आकाक्षाओ और अभिहत इच्छाओ की ओर से आँख बन्द करके ऊपर उडने चली पर दूर न जा सकी। डोरकटी पतग की भाँति नीचे गिर गई। ऐसी ही कृत्रिमता उस सारे वाङ्मय मे होगी जिसमे सत्य की, ऊपर के शुद्ध विचार-जगत् के सत्य की और नीचे के सुख-दु खाकुल व्यवहार-जगत् के सत्य की, युगपत् आभा न होगी। जो चाहता है कि उस जगत् मे विहार करे उसको इस जगत् को शुद्ध करना होगा। जितना ही यहाँ से पाषण्ड, दुराग्रह, शोषण, द्रोह, दीनता, अशान्ति को दूर किया जायगा उतना ही शाश्वत सत्य और सौन्दर्य का अबाध दर्शन किया जा सकेगा। देवराज

को यत्नपूर्वक पृथिवी पर उतारना होगा। पैप्पलादशाखीय अथर्ववेद संहिता के इस मंत्र को तो देखिये

यस्या हृदय परमे व्योमन् सत्येनावृतममृतम् पृथिव्या ।
सानो भूमिस्त्विषि बल राष्ट्रे दधातूत्तमम् ॥ (१७-१-९)

जिस पृथिवी का सत्य से आवृत अमृत हृदय परम व्योम मे है वह भूमि हमारे लिए राष्ट्र मे उत्तम तेज और बल को धारण करे।

जरा देखिये तो। सत्य से आवृत, अमृत, परम व्योम मे स्थित।

आपका विचार-जगत् कुछ ऐसे ही विशेषणो का पात्र है या नही ? यदि है तो आप धन्य है। परन्तु वैदिक ऋषि के लक्ष्य मे जो वस्तु है वह पृथिवी का हृदय है। शाश्वत है, सत्य से ओत प्रोत है, परम व्योम मे टिका हुआ है फिर भी पृथिवी मे प्रतिस्पन्दित हो रहा है। इस एक पंक्ति मे कितना भावगाम्भीर्य्य, कितनी विचारसामग्री है !

यदि आप सचमुच कला के उपासक है तो अपने उपास्य की उपासना के योग्य क्षेत्र बनाइये। यह जगत् तो श्मशान हो रहा है। क्या कला भी कोई पिशाची है जिसको आप श्मशान मे शव के ऊपर बैठकर नर-कपाल मे शोणितार्घ्य देकर सिद्ध करना चाहते है ?

यहाँ पर एक आक्षेप किया जा सकता है और किया जाता है। यदि राजा-महाराजा सेठ-साहूकार के हाथ बिक जाना कला को गिराना है तो किसी दल, किसी वाद विशेष, के हाथ बिक जाना भी कोई अच्छी बात नही है। कवि और कलाकार को स्वतंत्र रहना चाहिए। किसी दल या वाद का पक्ष लेकर जो रचना होगी वह प्रचार का भले ही काम दे पर उसका साहित्यिक मूल्य साबुन और औषध के विज्ञापन से अधिक न होगा। मैं इस आक्षेप की तथ्यता को स्वीकार करता हूँ, इसलिए आपसे किसी दल या वाद को अपनाने को नही कहता। यो आपको स्वत कोई वाद अच्छा लगे, किसी दल के साथ मन मिले, यह दूसरी बात है। सबके लिए किसी एक मत का होना अनिवार्य्य नही है। आपमे कोई हिन्दू है, कोई मुसलमान है, कोई ईसाई है, कोई अनीश्वरवादी है। सबका कुलाचार

एक-सा नही, पैतृक अनुभव एक से नही। इन बातो के कारण अवश्य ही दृष्टिकोणो मे भेद है पर यह भेद कला की सार्वभौमता मे बाधक नही होता, ये भेद ही तो कला को इन्द्रधनुष-सा सुन्दर बनाते हैं। कालिदास और शेक्सपियर एक दूसरे की प्रतिकृति नही है परन्तु साहित्यगगन के दोनो ही उज्ज्वल नक्षत्र है और हम दोनो से ही रस का पीयूषदान पाते हैं। भेद होते हुए भी दोनो सजातीय, सदेशीय है। आज विचार की स्वाधीनता कहाँ है? मन मे तो चाहे जो सोचा जा सकता है पर क्या अपना सोचा प्रकट भी किया जा सकता है? जो समाज व्यक्ति और वर्ग-स्वार्थ की नीव पर सव्यूहित है उसमे विचार-स्वातन्त्र्य कैसे रह सकता है। यह समझना कि हम स्वतत्र है अपने को धोखा देना है। हमको आज उतनी ही स्वतत्रता है जितनी कि पिँजडे मे बन्द चिडिया को होती है। पिँजडे के भीतर इधर-उधर उडने मे कोई नही रोकता। हम भी तब तक स्वतत्र है जब तक हमारी लेखनी वर्तमान सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्था पर, स्थिर स्वार्थो के दुर्ग पर, प्रहार नही करती। जहाँ उस दुर्ग की दीवार आरम्भ होती है वही हमारी स्वतत्रता समाप्त होती है। हम कला की मदिरा पीकर भले ही वास्तविकता को भुला दे पर हमारे स्वामी उसे नही भूल सकते। वह फूलो की सेज पर सोते है पर उन फूलो के नीचे काँटे चुभते रहते है। उनके कानो मे अपने शिकारो के कराहने का स्वर गूँजता रहता है, वह राख के नीचे छिपी आग को पहिचानते है। इसलिए वह ऐसे सहायकों का स्वागत करते है जो अपने को स्वतत्र कहते और समझते है। धर्माचार्यो और लेखनी के धनियो के लिए उनके यहाँ बडा आदर है पर इस आदर की कलई उस दिन खुल जाती है जिस दिन साधु, पुरोहित, विद्वान् और कलाकार निर्भयता के साथ पक्षपात छोडकर सच्ची बात कहने पर तुल जाते है। पूँजी और शासन को ऐसे लोगो की चाह नही है। वह उनको समाज के लिये अहितकर समझते है क्योकि वह अपने को समाज, समाज का सार समझते है। चक्की ऐसे बेकार जन्तुओं को पीस डालती है।

फिर भी मै आप से नही कहता कि आप विचार-स्वातन्त्र्य को छोडे। यह अमूल्य सम्पत्ति है, इसकी रक्षा प्राणपण से करनी चाहिए। आप किसी दल, किसी वाद को न अपनाये प्रत्युत उसे अपनाये जिसके नाम पर सब दल और सब वाद बनते है। आप मनुष्य मात्र के कल्याण को अपना लक्ष्य बनाये। इस समय कोई एक ही जाति, कोई एक ही राष्ट्र, विपत्ति मे नही है। मानवता घिर गई है। पीडक और पीडित दोनो का ही पतन हो रहा है। हमको न भेडे चाहिये, न भेडिये। हम तो मनुष्य चाहते है। आप अपनी आवाज और अपनी लेखनी को मनुष्य के लिए उठाइये। जहाँ कही जो कोई भी शोषक और प्रपीडक हो उसे अपना शत्रु समझिये, जहाँ कही जो कोई भी शोषित और पीडित हो उसके सिर पर अपना वरद हाथ रखिये, जो समुदाय, जो दल, जो वाद आपके मार्ग मे बाधक हो उस पर निर्भय आघात कीजिये, जो समुदाय, जो दल, जो वाद आपका हाथ बँटाये उसको प्रोत्साहन दीजिये। आज आपकी तुलना उस स्यार से की जाती है जो व्याघ्र के पीछे चलता है। व्याघ्र शिकार करता है और स्यार उसके जूठे छीछडो से आत्मतर्पण करता है। आप उठिये, स्वय सिह बनिये और भेडियो के झुडो का सहार कीजिये।

यह काम आपके, आपके ही योग्य है। उत्पीडन के विरुद्ध आज चारों ओर विद्रोह हो रहा है परन्तु विद्रोहियो की शक्ति पर्याप्त नही है। उनकी लकडियो, तलवारो और पटाखो का उत्तर बम, वायुयान, मशीनगन और तोप से दिया जा सकता है। इस विषम लडाई मे जीत न्याय की नही वरन् गोला-बारूद और रुपयो की होगी। पर आप अजेय हो सकते है। आपने वह सोम पिया है जो मनुष्य को अमर बना देता है, आपकी नाडियो को ऋत और सत्य प्राणित कर रहे है, आप वाणी के लाडले है; आपने उस ज्योति को देखा है जो सत्य है, सुन्दर है, शिव है, अभय है। आपके सामने स्वार्थ का सिहासन काँपता है पर आप अपने को भूले हुए है। विचार-जगत् की नागरिकता बडे पुण्य से मिलती है परन्तु इस समय आप खपुष्प पर मँडरा रहे है।

सौन्दर्यानुभूति और कला

कुछ ऐसे दृग्विषय है जिनको देखकर हृदय मे रस का सञ्चार होता है। गगनचुम्वी हिमाच्छादित गिरिशिखर, समुद्र की फेनिल उत्ताल तरङ्ग, प्रपात और निर्झर, तारो से जगमगाता आकाश, शीतल शशिप्रभा यह सब मनोरम लगते है। किसी तूलिका से निकला चित्र, किसी कवि के मुँह से निकले कुछ शब्द, चित्त को बरबस अपनी ओर खीच लेते है। हम इन सब मे जो मनोहारिता पाते हैं उसको सौन्दर्य कहते है। यह सब अपने अपने ढङ्ग से सुन्दर हैं।

सौन्दर्य के सम्बन्ध में बृहत् वाङमय है। विशेषज्ञो ने सुन्दर कही जानेवाली वस्तुओ का विश्लेषण करके उन गुणो की तालिका बनाई है जो उनमे पाई जाती है। हमको इस शास्त्रीय विवेचन मे पडने की आवश्यकता नही है। यहाँ इतना ध्यान मे रखना पर्य्याप्त होगा कि यद्यपि सममात्रिता, सामञ्जस्य, साधुभाव जैसे बहुत से गुण सहचारी रूप से सुन्दर वस्तुओ मे पाये जाते हैं परन्तु सौन्दर्य एक अपूर्व धर्म्म है। इन सहचारियो के अभाव मे उसकी अनुभूति प्राय नही होती परन्तु वह इन सब से भिन्न है। उसका सम्बन्ध उपयोगिता से भी नही है। ताजमहल की उपयोगिता इतनी ही है कि उसमे एक स्त्री का शव गडा हुआ है पर उसकी बनावट मे जो सौन्दर्य अनुभूत होता है वह इस उपयोगिता पर अवलम्बित नही है।

सौन्दर्य की अनुभूति कुछ तो द्रष्टा पर निर्भर करती है, कुछ दृश्य पर। साधारणत हम किसी न किसी वासना से अभिभूत रहते हैं। वासना रागात्मक हो या द्वेषात्मक, वह वस्तु के स्वरूप पर पर्दा डाल देती है। दृश्य से जितने सवितो का प्रहार इन्द्रियो के द्वारा चित्त पर होता है उनमे से कुछ का ही ग्रहण होता है, शेष तिरस्कृत कर दी जाती है। इसलिए अन्त करण मे एकाङ्गी चित्र ही बन पाता है। इस एकाङ्गी

चित्र मे सौन्दर्य नही होता। कामी पुरुष सौन्दर्य को न ढूँढ़ता है न पाता है, वह रतिवासना की तृप्ति मात्र चाहता है। जो क्रोध से पागल हो रहा है उसके लिए फूल सा कोमल बालक भी सुन्दर नही है। जब चित्त किसी वस्तु पर अपने को लगा देता है तभी उसका स्वरूप, उसका सारा रहस्य, सामने आता है। नाटक के प्रेक्षण का पूरा लाभ उसी को मिलता है जो स्वय अभिनेता नही होता। जो भोग चाहता है वह सौन्दर्य नही पा सकता। सौन्दर्यानुभूति की कुजी स्रोतापत्ति अपने को प्रवाह में डाल देना है। सौन्दर्य—वस्तु का स्वरूप तब सामने आता है जब सौन्दर्य की भी खोज नही होती। ऐसा होने पर बूँद उस समुद्र को उन्मुक्त कर देता है जो उसके गर्भ मे सतत छिपा रहता है। खिले कमल मे, बादलो मे से झाँकती ज्योत्स्ना मे, उषा के स्मित मे, मयूर के नृत्य मे, विधवा के मौन रुदन मे, अनाथ की लुटी आँखो मे विश्व का रहस्य भरा है। हम रुदन के सम्बन्ध मे सौन्दर्य शब्द सुनकर चौकते है। यह प्रयोग कुछ असाधारण सा तो है परन्तु हमारे चौकने का मुख्य कारण यह है कि हम सौन्दर्य को भोग्यता के साथ सम्बद्ध मानने के अभ्यासी हो गये है।

दृश्य भौतिक उपकरणो से निर्मित तो होता ही है पर गहरी और निष्काम दृष्टि डालने से वह गुणो और भावनाओ का प्रतीक प्रतीत होने लगता है। यो तो यह बात सभी वस्तुओ मे पाई जाती है परन्तु कुछ मे तो ऐसा जान पड़ता है कि जगत् को परिचालित करनेवाली शक्तियाँ, जिनको समाधि भाषा मे महाविद्या कहते है, साक्षात् मूर्तिमती होकर खडी हैं। ऊँचा पहाड पत्थरो का ढेर नही है, वह शक्ति है जो गुरुत्वाकर्षण को अभिभूत कर रही है, उस ओज का प्रतीक है जो नीचे खीचनेवाली परिस्थितियो को ठोकर मारकर ऊपर उठाता है; वसन्त मे कली नही चटकती, शिशिर मे पत्तियाँ नही झडती, ब्राह्मी और रौद्री शक्तियाँ काम करती है, कमल किञ्जल्क के बीच मे भौंरा रस पान नही करता, लक्ष्मी अमृत के कलश लुढकाती है, कुतिया अपने बच्चो को दूध नही पिलाती, साक्षात् जगद्धात्री जीवो में प्राण डाल रही है। इन शब्दो का लोग प्राय

प्रयोग नही करते, बहुतो को इन शक्तियो की कल्पना भी नही है, परन्तु इनका साक्षात्कार होता है। देखनेवाला अपने साधारण जीवन के ऊपर उठ जाता है, भौतिक जगत् अशत पीछे छूट जाता है, ऋत और सत्य की कुछ झलक मिल जाती है, नानात्व का कुछ उपशम हो जाता है, उस एक पदार्थ से थोडा-बहुत तादात्म्य प्राप्त हो जाता है जो जगत् का मूल है।

द्रष्टा और दृश्य के एवम्भूत योग का नाम ही रसानुभूति या सौन्दर्यानुभूति है। यह अवस्था एक प्रकार की समाधि है। वस्तुत दृश्य द्रष्टा से भिन्न नही है। अविद्या ने ही यह द्वैध उत्पन्न किया है। दृश्य रूप मे द्रष्टा को अपना दर्शन होता है। दृश्य मे जो भी स्थूल सूक्ष्म लक्षण प्रतीत होते है वह द्रष्टा की मन प्रसूति है। अत जब चित्त एकाग्र होता है और रस की अनुभूति होती है उस समय द्रष्टा अपने ही सूक्ष्म रूप को देखता है। दृश्य सिमिटकर द्रष्टा के पास आ जाता है।

इसीलिए सौन्दर्य का सच्चा अनुभव योगी को ही हो सकता है। ज्यो-ज्यो चित्त की वृत्ति रुकती है, त्यो-त्यो अन्त करण के दिक्कालादि धर्म्मो का अतिरोहण होता है। अन्त मे अविद्या के क्षय होने पर भेद बुद्धि नष्ट हो जाती है और एक अद्वय अखण्ड चित्सत्ता अपनी लीला का सवरण करके अपने आपका साक्षात्कार करती है। उसका स्वरूप परमानन्द है, अत योगी पर निरन्तर सोम की वर्षा होती है। कबीर के शब्दो मे, "रस गगन गुफा मे अजर झरै"। योगी के लिए सदा सर्वत्र सौन्दर्य का सागर लहराता रहता है।

रसानुभूति के इस दृढ स्तर पर-पहुँचना तो अनेकजन्म यत्नसाध्य है परन्तु जिसको थोडी देर के लिए भी सौन्दर्य की, जगत् के सच्चे स्वरूप की झलक मिल जाती है वह भाग्यवान् है। जो लोग अपने इस अनुभव को दूसरो तक पहुँचाने की क्षमता रखते है वही कवि और कलाकार कहलाने के पात्र है।

मैंने अब तक जिन सुन्दर दृश्यो के उदाहरण दिये है वह सब प्राकृतिक है परन्तु जो बात उनके लिए कही गई है वही सच्चे कलाकार की कृति

मे भी पाई जाती है। उसकी सृष्टि भी प्रतीकात्मक होती है। कलाकार फोटो नही खीचता। वह प्रकृति की अनुकृति नही करता। उसका उद्देश्य यह होता है कि सत्य की जो झलक उसको मिली है वह दूसरो को भी मिले। इसके लिए उसको भौतिक साधनो से काम लेना पडता है और यह साधन अपने सहज दोषो को छोड नही सकते। चञ्चल, सक्रिय पदार्थो को धातु पत्थर या कागज मे बाँधना उनको मार डालना है। उसका कौशल इसी बात मे है कि कला की सामग्री कला के उद्देश्य को कम से से कम व्यवहित कर सके।

कवि इस बात मे भाग्यवान् है कि उसका उपकरण शब्द है। शब्दों मे प्रवाह होता है और वह विचार-प्रवाह के प्रतीक होते है। पद्य मे विभिन्न छन्दो की मात्रा और लय के सघटन से प्राणो मे लय उत्पन्न होता है और इससे चित्त की एकाग्रता मे सहायता मिलती है। शब्दो का प्रयोग भी ऐसा होता है कि बुद्धि ब्योरे की बातो मे न उलझकर उसी तत्व पर टिके जहाँ कवि उसे जमाना चाहता है। काव्य दृश्य हो या श्रव्य, कवि को विभाव और स्थायी से काम लेना पडता है, अनुभाव और सात्विक को दिखाना पडता है, परन्तु उसका लक्ष्य रस ही रहता है। यदि नायक नायिका या उद्दीपन सामग्री या रति आदि भाव या पात्रो की चेष्टाये अपने मे रोक रक्खे तो यह कवि की प्रतिभा का दोष है। काव्य का आधार किसी व्यक्ति विशेष को बनाना पडता है परन्तु चित्त व्यक्ति के ऊपर उठकर प्रेम, करुणा, त्याग, वैराग्य आदि के निर्व्यक्ति क्षेत्र मे मँडराने लगता है। श्रोता अपने मे पात्र को और पात्र मे अपने को पाता है। थोडी देर के लिए अनुभूति का घेरा निसीम और उसकी गहराई अथाह हो जाती है।

कलाओं मे सङ्गीत का स्थान सबसे ऊँचा है। सङ्गीत साहित्य से भी ऊपर उठता है। कवि जिन शब्दो से काम लेता है वह अपने अर्थों और ध्वनियो को नही छोड सकते इसलिए बुद्धि उनमें कुछ न कुछ उलझ ही जाती है। सङ्गीत मे स्वर और ताल से काम लिया जाता है, स्वर

उस आदि शब्द स्फोट की आदिम अभिव्यक्ति है जिससे इस भौतिक जगत् का विकास हुआ है, इसलिए वैखरी, मुँह से निकलनेवाली स्वनराशि का अग होते हुए भी वह परावाणी के बहुत निकट है। अच्छे गाने या बजानेवाले को भाषा मे कुछ बतलाने की आवश्यकता नही होती। स्वरो का आरोहावरोह प्राणो को बाहर से खीचकर ऊर्ध्वमुख कर देता है; चित्त विक्षेप को छोडकर मत्रमुग्ध सर्प की भाँति निश्चल हो जाता है; नानात्व देव-सा जाता है; शरीर के भीतर-बाहर एक-सा झकृत हो उठता है, ऐसा प्रतीत होता है कि देह का बन्धन छूट गया। मैं उठता, फैलता, सा जाता हूँ, रस का सागर उमड-सा आता है, अपने मे एक अद्भुत आनन्द छा जाता है। सामवेद के उद्गाता और वीणा के कुशल बजानेवाले अनाहतनाद के स्वर मे स्वर मिलाते है, नटवर के पायल ब्रह्माण्डो के स्पन्दन को ताल देते है। क्षण भर की भी ऐसी समाधिकल्प अनुभूति मनुष्य को पवित्र कर देती है।

मैने ऊपर कहा है कि सौन्दर्यानुभूति का सबसे बडा साधन स्रोतापत्ति है। स्रोतापत्ति तप साध्य है। इसका तात्पर्य यह नही है कि जो घर बार छोडकर जङ्गल मे रहता है वही सौन्दर्य का आस्वाद पाता है किन्तु यह निश्चित है कि जिसका चित्त अपनी अतृप्त वासनाओ और अभिहत इच्छाओ का शिकार बना रहता है वह न तो उत्कृष्ट कला की सृष्टि कर सकता है, न उसमे रस का सञ्चार हो सकता है। ऐसा चित्त अपनी कृतियो मे अपनी अस्त-व्यस्त दशा का चित्र खीच सकता है परन्तु न उसने सत्य को जाना है न दूसरे को उसकी झलक दिखला सकता है। ऐसी रचना मे स्थायी आकर्षण नही होता। इसी प्रकार वासनावरुद्ध चित्त कला से स्थायी भाव के उद्दीपन का काम तो ले सकता है परन्तु उस स्तर तक नही उठ सकता जहाँ कलाकार का मानस आसन होता है।

प्रत्येक अनुभूति चित्त का परिणाम-विशेष होती है। वह द्रष्टा की अपनी चीज होती है परन्तु जब उसको व्यक्त किया जाता है, जब वह

कृति के रूप में दूसरों के पास तक पहुँचाई जाती है तो फिर सार्वजनिक सम्पत्ति बन जाती है। जो जनता के सामने कोई कृति रखना चाहता है उसके ऊपर यह दायित्व है कि इस बात की परीक्षा कर ले कि वह लोक-सम्पत्ति होने के योग्य है या नहीं। जगत् में हर प्रकार की वस्तुएँ हैं परन्तु कोई भी समझदार कूड़ा-करकट जमा नहीं करता। अपने हृदय की प्रत्येक कसक, अपनी प्रत्येक भूख, अपनी बुद्धि की प्रत्येक उड़ान, ऐसी नहीं होती कि दूसरों को उसका स्वाद लेने के लिए निमन्त्रित किया जाय। जगत् सार्वजनीन है, उसका मूल विभु और सर्वजनगत है, उसका नियमन करनेवाली शक्तियाँ सार्वलौकिक हैं। जगत् के स्वरूप का ज्ञान मोक्ष देनेवाला, परम कल्याणकारी है। योगी न होते हुए भी कवि को, दार्शनिक को, वैज्ञानिकप्रयोक्ता को, इस परतत्त्व का कुछ आभास मिलता है। वह तत्त्व सत्य है, शिव है, सुन्दर है। उसको व्यक्त करनेवाली कृति कलामय होगी और शिवमय होगी। कलाकार को अपने लिए यही परख रखनी चाहिए। उसको कोरी भावना छोड़कर बुद्धि से भी काम लेना चाहिए। जिस रचना का उद्गम ऋत और सत्य नहीं है, जिसका उद्देश्य लोकमङ्गल नहीं है, जिसका आवरण, जिसकी सजावट अशिव है, वह सुन्दर नहीं हो सकती।

रे ५ ७ ७ १-१४

शिक्षा उन विषयो मे से एक है जिनकी ओर आजकल सभी लोगो का ध्यान जा रहा है। पुरुष और स्त्री, बच्चे और बूढे सभी को पढाने का आयोजन किया जा रहा है। नये स्कूल और कालिज ही नही, विद्यापीठ और विश्वविद्यालय तक खुल रहे है और इनके ऊपर करोडो रुपया व्यय हो रहा है। जिस प्रकार इससे पहले जन्म भर की पाप की कमाई एक धर्मशाला बनवा देने या कुआँ खुदवा देने से निर्दोष हो जाती थी, उसी प्रकार आजकल शिक्षालयो को दान देना प्रायश्चित्त का सुलभ साधन है। जो लोग रुपया नही लगा सकते वे बुद्धियोग से ही सेवा करते है। अपने थोडे-से मन्त्रिकाल मे मुझे शिक्षा के सभी अङ्गो के सम्बन्ध मे सैकडो आयोजन मिले। इन प्रस्तावो के भेजनेवालो मे बहुत-से ऐसे सज्जन थे जिनसे मुझको परिचय का सौभाग्य न था और जो स्वय किसी शिक्षण-सस्था से किसी प्रकार सम्बद्ध न थे। इसे मेरा दुर्भाग्य ही समझना चाहिए कि मै इनमे से अधिकतर परामर्शो से लाभ न उठा सका, पर यह देखकर आश्चर्य हुआ कि शिक्षा के भिन्न-भिन्न अगो पर इतने व्यक्ति स्वतत्र विचार कर रहे है। यदि अपना देश स्वाधीन हो तो यह बौद्धिक शक्ति बहुत उपयोग मे लाई जा सकती है।

शिक्षा मे यह व्यापक अभिरुचि उन लोगो के लिये बडे हर्ष का विषय है जो इस काम मे बराबर लगे हुए है। अध्यापको को तो इससे बडी प्रसन्नता होती है। मै स्वय अध्यापक रहा हूँ और हूँ, इसलिए अपनी जानकारी से ऐसा कह सकता हूँ। जितने ही नये शिक्षालय स्थापित होते है, जितना ही पूर्वस्थापित शिक्षालयो का परिवर्द्धन होता है, मनोविज्ञान और अध्यापन-शास्त्र का जितना ही गहरा अध्ययन होता है, उतना ही हमारा काम सुकर होता है। प्रत्येक ऐसा व्यक्ति जो शिक्षा के लिए एक

पैसा देता है और प्रत्येक ऐसा व्यक्ति जो अशिक्षितो से निकलकर शिक्षितो की कोटि मे मिलता है, हमारा सहायक है। अज्ञान से लडने के लिये हम प्रत्येक सिपाही का स्वागत करते है। शिक्षा और साक्षरता मे जो भेद है उसे हम जानते है परन्तु साक्षरता भी उपेक्षणीय नही है। वह शिक्षा का प्राथमिक सोपान है, इसलिये साक्षरता प्रचार भी प्रसन्नता का ही विषय है।

परन्तु इस व्यापक सन्तोष मे कुछ काली रेखाएँ भी है और वे रेखाएँ बहुत काली है। अन्य लोगो के साथ-साथ सरकारे भी शिक्षा मे अभिरुचि ले रही है। सरकार न कहकर राज शब्द का प्रयोग किया जाता है। राज को शिक्षा की ओर ध्यान देना ही चाहिए। उसका कर्तव्य है कि वह ऐसे प्रबन्ध करे जिनसे सबको यथोचित शिक्षा मिले और शिक्षा के लिये अर्पित धन का अपव्यय न हो। छात्रो और अध्यापको की सुविधा भी उसे देखनी चाहिए और इस बात पर भी दृष्टि रखनी चाहिए कि सभी आवश्यक विषयो की पढाई का प्रबन्ध रहे। राजकोष पर शिक्षा का पहला अधिकार है। पर आजकल राज इतने से सन्तुष्ट नही होता। वह यह भी निश्चय करता है कि क्या पढाया जाय, कौन पढे और कौन पढ़ाये। इसमे कोई सन्देह नही कि किसी न किसी को तो यह निश्चय करना ही होगा कि किस प्रकार की शिक्षा दी जाय। यह काम समाज का, उसके दार्शनिक विद्वानो और धर्माचार्यों का है। उनको सोचना चाहिए कि मनुष्य के जीवन का लक्ष्य क्या हो। जैसा लक्ष्य होगा वैसा ही समाज होना चाहिए और उस समाज के उपयुक्त ही शिक्षा होनी चाहिए। यह विचार और निश्चय मुट्ठीभर शासको के ऊपर नहीं छोडा जा सकता, पर आज यही हो रहा है। थोड़े-से प्रभावशाली व्यक्ति जो निर्णय कर लेते है, वह राज के नाम से सारे समाज और शिक्षा के द्वारा आनेवाली पीढियों के सिर लादा जाता है। इस प्रकार के निर्णय का आधारस्तम्भ यह सिद्धान्त होता है कि राज की सत्ता व्यक्ति की सत्ता से अधिक महत्त्व रखती है। व्यक्ति के जीवन की सार्थकता इसी बात में

है कि वह राज का अग रहकर उसका हित-साधन करे। राज से पृथक् उसका उतना ही मूल्य है जितना कि शरीर से पृथक् हाथ, पाँव, सिर या किसी अन्य अवयव का। राज के हित मे व्यक्तियो का हित निहित है पर राज के हित के सामने व्यक्ति के हित का कोई मूल्य नही है। राज व्यक्ति के लिए नही, व्यक्ति राज के लिए है। राज का हित किस बात मे है इसका निश्चय उसका उत्तमाङ्ग अर्थात् शासकवृन्द ही कर सकता है। व्यक्ति को शासको की बात माननी ही होगी। उसका विद्रोह करना वैसा ही है जैसा किसी अवयव का शरीर के विरुद्ध विद्रोह करना। इसका तात्पर्य यह होता है कि सारी जनता को हर बात मे मुट्ठीभर आदमियो के हाथ मे रहना पडता है और अपने जीवन के हर विभाग को उनके ऊपर छोड देना होता है। यह स्पष्ट ही है कि जहाँ राज का हित ही सबसे बडा लक्ष्य है वहाँ विभिन्न राजो के हित आपस मे निरन्तर टकराते रहेगे, क्योकि प्रत्येक राज अपने हित को सबसे ऊँचा स्थान देगा। ऐसी दशा मे बराबर युद्ध होगे और प्रत्येक राज बल-सग्रह मे अपनी सारी शक्ति लगाता रहेगा। दूसरे राजो को दबाने और दूसरे देशो के निवासियो का शोषण करने के सिवाय राज का और कोई दूसरा हित भी नही हो सकता। ऐसी परिस्थिति मे सबसे अच्छा नागरिक वह होगा जो बिना कुछ कहे-सुने अपना सर्वस्व सदैव राज के चरणो पर न्योछावर करने के लिये तैयार रहे। ऐसी नागरिक मनोवृत्ति एक विशेष प्रकार की शिक्षा से ही उत्पन्न हो सकती है। इसलिए आजकल के राज शिक्षा को अपने हाथ मे रखते है। वे चाहते है कि प्रत्येक व्यक्ति मे बचपन से ही यह भाव कूट-कूटकर भर दिया जाय कि उसका राष्ट्र और राज सर्वश्रेष्ठ है और पृथिवी पर सस्कृति फैलाने का उसके ऊपर विशेष दायित्व है। ऐसे नागरिक को यह सोचकर कि मै इस राज का अग हूँ, कुछ वैसा ही आनन्द मिलता है जैसा कि किसी भक्त को भगवान् का अग होने मे। वह कभी इस बात को मान ही नही सकता कि उसका राज कभी भूल कर सकता है या किसी और राज का पक्ष उसकी अपेक्षा

अधिक न्यायसगत है। जो ऐसी वृत्ति उत्पन्न करने का बीड़ा ले और इसके लिये सत्य को तिलाञ्जलि देकर इतिहास, विज्ञान और दर्शन का गला घोटने को तैयार हो, वही अध्यापन के गुरु कार्य मे लगने दिया जा सकता है। ऐसी शिक्षा असत्य की नीव पर खडी की जाती है और लूट-खसोट तथा दुरभिमान के मनोवेगो को उद्दीप्त करती है; पर इसमे यह बडा गुण है कि राज को सहज ही ऐसे बकरे मिल जाते है जो हँसते-खेलते बलिवेदी पर चढ जाते है।

शिक्षा के सच्चे प्रेमियो के लिए यह बात चिन्ताजनक है परन्तु रोक का कोई प्रयास नही हो रहा है। जर्मनी-जैसे फासिस्ट राज तो खुलकर यह खेल खेलते ही है, जो राज अपने को लोकायत्त कहते है वे भी उसी लीक पर चल रहे है। एक बार शिक्षा की शक्ति को समझ लेने पर कोई सरकार इस अद्भुत शक्ति को छोडना नही चाहती। दस-पॉच वर्षो मे जनता की बुद्धि को बदल देने का यह अपूर्व साधन है। इसके अनुसार पाठशाला एक प्रकार का कारखाना बन जाता है जिसमे से छात्रो की बुद्धि एक ही सॉचे मे ढलकर निकलती है। राज की शिक्षा-नीति क्या कुछ कर सकती है इसका उदाहरण हम भारत मे देख सकते है। पठान और मुगल शासक अपनी प्रजा की बुद्धि से विद्रोह का भाव कई सौ वर्षो मे न निकाल सके, पर वह काम अँगरेजो ने सौ वर्षो के भीतर-भीतर कर लिया। इतिहास और साहित्य की पोथियो मे एक पक्ति इधर घटा दी, एक पक्ति उधर बढा दी, किसी के नाम के आगे कोई विशेषण जोड दिया, किसी घटना को दस, किसी को पॉच शब्दो मे दिखाया कि जादू चल गया। सैकडो हजारो भारतीयों पर यह सिक्का बैठ गया कि भारत का इतिहास अटूट दासता की गाथा है, हम अपने पाँवो पर कभी अकेले नही खडे हो सके, हमारे आभ्यन्तर कलह अमिट है, हमारे यहाँ सच्चा रामराज्य तो अँगरेजी शासनकाल मे आया है और हमारा कल्याण अँगरेजो की छत्रच्छाया मे रहने मे ही है।

ऐसी परिस्थिति श्रेयस्कर नहीं हो सकती। असत्य के बल पर सच्ची

असत् शिक्षा कलह और अन्तर्राष्ट्रीय अशान्ति को कभी बन्द न होने देगी और एक दिन सभ्यता को श्मशान पहुँचाकर ही दम लेगी। प्रत्येक ऐसे व्यक्ति को जो मनुसन्तान का हित चाहता है, इस विषय मे सतर्क होना चाहिए। इस सतर्कता का फल यह होगा कि मनुष्य-जीवन का सच्चा लक्ष्य और नागरिकता का साधु आदर्श स्थापित होगा और राज के सार्वभौम अधिकार का गढ ढह जायगा। उसी अवस्था मे शिक्षा के समुचित प्रयोग हो सकेगे।

जिस दिन जनता शिक्षा के वास्तविक महत्त्व को समझेगी उस दिन उसका पहला काम शिक्षको की अवस्था का सुधार होगा। आज के अध्यापक की गिरी दशा शिक्षा के पतित आदर्शो की प्रतीक है। जहाँ बहुत से कारखाने है वहाँ पाठशाला भी है। किसी मे कीले ढलती है, किसी मे जूते बनते है। सब माल एक-सा। एक सुई या पुस्तक या लोटा दूसरे से पहचाना नही जा सकता। हाथ की बनी वस्तुओ मे विशेषता होती है, कारखाना विशेषता को समाप्त कर देता है। इसी प्रकार स्कूल से एक प्रकार की नपी-तुली बुद्धि के लडके निकलते है, एक-सा सार्टिफिकेट सब के पास है। स्कूल मौलिकता को प्रोत्साहन नही दे सकता। अध्यापक चाहे वह कालिज के प्रोफेसर हो या देहाती पाठशाला के गुरूजी इस बडे कारखाने के मजदूर है। उनको ऊपरवालो की आज्ञा के अनुसार माल तैयार करना है, अर्थात् पढाना है। बेकारी के दिनो मे भी वेतन मिलता है, और क्या चाहिए?

जब तक यह भाव बना रहेगा तब तक अध्यापक भी बेगार ही करते रहेगे। शिक्षा के आदर्शो का निश्चय करना पूरा-पूरा अध्यापको पर ही नही छोडा जा सकता परन्तु उनका भी इसमे बडा हाथ होना चाहिए। जिस कारीगर को काम करना है उसको यह भी कहने का अधिकार होना चाहिए कि इस मसाले से क्या तैयार हो सकता है और होना चाहिए। यह तो अजीब अन्धेर है कि शिक्षा के सम्बन्ध मे अनाडी निर्णायक सम्मति दे और अध्यापक को बोलने का अधिकार न हो। समाज शिक्षकवर्ग के

साथ बराबर अन्याय करता आया है। वेतन-पुरस्कार के समय उसका स्थान सबसे पीछे आता है। मै यह जानता हूँ कि कुछ ऐसे भाग्यशाली अध्यापक भी है जो पर्याप्त वेतन पा रहे है, पर इनकी सख्या बहुत थोडी है। अधिकतर ऐसे ही है जिनको दूसरे पेशो के बाजार-भाव के अनुसार भी पारिश्रमिक नही मिलता। जिनके सुपुर्द यह कार्य है कि वे भविष्यत् के नागरिको और नेताओ को तैयार करे, उनसे भूखे रहकर काम करने की आशा की जाती है। यह नही सोचा जाता कि इनके भी बाल-बच्चे है, इन्हे भी लडकियो का ब्याह करना है और लडको को पढ़ाना है, इनको भी अच्छे खाने-पहनने की इच्छा होती है, इनका भी जी मनोरञ्जन चाहता होगा। जो लोग अध्यापको को सादगी का उपदेश देते है और उनको प्राचीनकाल के विद्यापीठो मे पढानेवाले साधु-ब्राह्मणो की याद दिलाते है, वे स्वय यह भूल जाते है कि आज वह युग नही है, आज के अध्यापक को भिन्न प्रकार की सभ्यता के बीच रहना है, आज उसके शिष्य उसके चरणो पर गुरु-दक्षिणा नही रखते, सारा काम बँधे वेतन से ही चलाना है। एक और बात लोग भूल जाते है। योगियों और तपस्वियो की बात न्यारी है ऐसे लोग तो बहुत थोडे होते हैं परन्तु जो मनुष्य घोर तामसिक नही होता उसमे कुछ न कुछ महत्वाकाक्षा नि सन्देह होती है। या तो वह धन चाहता है या ऊँचा पद जिसमे दूसरो पर अधिकार हो या सम्मान मिले। अपनी इस इच्छा के अनुसार उसे प्रधानत वैश्य, क्षत्रिय या ब्राह्मण स्वभाव का कह सकते है। साधारणत सभी चीजो की चाह होती है पर इनमे से कोई एक दूसरो से प्रबल पडती है। अब बेचारे अध्यापक को लीजिए। उसका वेतन बहुत कम है और अधिकार भी कुछ नही है। समाज उसे सम्मान तक भी देने को तैयार नही। क्या गाँव और क्या जनपद, अध्यापक का स्थान सबसे नीचा है। क्या राज-दर्बार और क्या सभा-समिति अध्यापक की जगह पीछे ही होगी। एक तहसीलदार या थानेदार का सम्मान किसी बड़े कालिज के प्रधानाध्यापक से ऊँचा होगा। एक नौसिखिया वकील

जो दीवानी फौजदारी कानून के सिवाय कुछ नही जानता, राजनीति और अर्थनीति, शासन और शिक्षण पर बोलने का अधिकारी है, और अनेक शास्त्रो मे निष्णात अध्यापक के लिये चुप रहना ही उचित समझा जाता है। इस आक्षेप के उत्तर मे यह कहना व्यर्थ है कि जो व्यक्ति योग्य होगा वह अपने व्यक्तित्व के बल पर सम्मान प्राप्त कर ही लेगा। यह बात ठीक है पर सब के लिए ठीक नही है। यहाँ विशेष व्यक्तियो की क्षमता का विचार नही है, प्रश्न तो समाज के सामान्य दृष्टिकोण का है। इसी लिए यह विचार भी अप्रासङ्गिक है कि अध्यापको को कहाँ तक और किस प्रकार राजनीतिक वादविवाद मे भाग लेना चाहिए।

समाज को अपनी इस नीति का फल मिल रहा है। थोडे-से व्यक्ति तो इस क्षेत्र मे प्रेम से आते है परन्तु बहुधा ऐसा ही होता है कि जब लोग अपने लिए कोई और पेशा नही देखते तब अध्यापक बनने की सोचते है। जिस व्यवसाय मे किसी भी महत्वाकाक्षा की पूर्ति के लिये अवसर नही उसकी ओर पहले ध्यान कम ही लोगो का जाता है। समाज को यह आशा न करनी चाहिए कि जो मनुष्य विवश होकर इस काम मे आया है वह पूरा उत्साह दिखला सकेगा। वह तो अपनी अतृप्त इच्छाओ की आग मे जलता-रहेगा। उसे बराबर यही ख्याल होता रहेगा कि मैं यहाँ दुर्भाग्यवश आ फँसा हूँ। मुझ से कम योग्यतावाले अधिकार, धन और सम्मान का उपभोग कर रहे है और मै एक कोने मे पड गया हूँ। यदि समाज चाहता है कि उसके बच्चो को उच्च कोटि की शिक्षा मिले और उसके अध्यापक अपने काम मे अपना पूरा मनोयोग दे तो उसे इस पेशे को अन्य पेशो के बराबर आकर्षक बनाना होगा। अध्यापको को पर्याप्त भृति देनी होगी और सम्मान बढाना होगा। ब्राह्मण चातुर्वर्ण मे शिरस्थानीय था। अध्यापक का भी समाज में वही स्थान होना चाहिए। जिसके साथ शूद्र-जैसा व्यवहार किया जाय उससे ब्राह्मण-जैसे आचरण की आशा नही की जा सकती।

पर जहाँ समाज दोषी है वहाँ हम अध्यापक भी कम अपराधी नही

है। जो इस पेशे मे आये उसे यह समझ लेना चाहिए कि वह व्यास और वशिष्ठ की गद्दी पर बैठने जा रहा है। वेतन लेना पाप नही है, पुरोहित भी दक्षिणा लेता है, परन्तु अध्यापन को केवल जीविका का साधन समझना अधर्म है। कोमल बुद्धि बालक-बालिकाओ को मनुष्य बनाने का अवसर सबको नही मिलता। हमारे छात्रो मे से ही भविष्यत् के नेता, योद्धा, राजपुरुष, विज्ञानवेत्ता और दार्शनिक निकलेगे। यह गौरव की बात है। हम अपने वेतनादि से सन्तुष्ट हो या न हो परन्तु हमे इस बात का कोई अधिकार नही है कि अपने असतोष का बदला छात्रो से ले। उनको तो हमारी पूर्ण शक्ति, पूरा बुद्धि योग, पूरा नैतिक सहारा मिलना ही चाहिए। विद्यादान करते समय तो हमारा वह भाव होना चाहिए जो पूजा करते समय होता है।

दु ख के साथ कहना पडता है कि हमने अपने कर्तव्य को नही पहचाना। समाज ने, या समाज के नाम पर उसके शासको ने, हमको मजदूर समझा और हम भी चुपके-से विवेकशून्य मजदूर बन गये। हमसे जो कहा गया हमने वही कर दिया। यह न सोचा कि काम करणीय भी है या नही। अपने राजनीतिक विश्वास के लिए हजारो आदमी जेल जाते है, कितने सम्पत्ति की हानि करते है, बहुतो को प्राणो से हाथ धोना पडता है। अपने धर्म या धर्मग्रथ या मन्दिर-मस्जिद के नाम पर कितने ही पुरोहितो, पुजारियों और पादरियो ने यातनायो सही है और प्राण दिये है। पर यह सुनने मे स्यात् ही कभी आता है कि अमुक अध्यापक ने इसलिए अपना काम छोड दिया कि वह अधिकारियो की आज्ञा के अनुसार पढाने को तैयार न था। यदि वैद्यो को आज्ञा दी जाय कि तुम अपने रोगियो को विष दे दो तो अधिकतर वैद्य इस आज्ञा को न मानेगे, पर ऐसे कितने अध्यापक है जिन्होने अपने छात्रो की बुद्धि मे असत्य ज्ञान का विष सञ्चार करना अस्वीकार किया है? जो किसी सिद्धान्त के लिये कष्ट सहने को तैयार नही, जिसको कोई आदर्श इतना प्यारा नही कि वह अपने को उसके लिए बलिदान करने को बाध्य समझे, वह कभी लोकसम्मान का भाजन नही बन सकता।

जब हम लोग समाज को दोष देते है तो इस बात पर भी विचार कर लिया करे। कभी हम यह भी सोचते है कि इस समय जो साम्प्रदायिक वैमनस्य सारे देश मे फैला है, उसके लिए हमारा और हमारे झूठे इतिहास पढाने का कहाँ तक दायित्व है ?

अध्यापन को केवल व्यवसाय समझ लेने का परिणाम यह हुआ है कि हम अपने को समाज के भले बुरे के लिये दायी नही समझते। यह भूल जाते है कि हम भी इस समाज के अग है और इस पर हमारा भी उतना ही स्वत्व है जितना किसी बडे से बडे राजनीतिक नेता का। अनुत्तर-दायित्व के भाव ने इतना घर कर लिया है कि हम उस गुण को खो बैठे है जिसकी अध्यापक को सबसे बडी आवश्यकता है। यह गुण सहानुभूति है। हमको अपने विद्यार्थियो के साथ सहानुभूति नही रही। आज का युवक और यही बात युवतियो के लिये भी सच है असाधारण परिस्थिति मे है। प्राचीन नष्ट हो रहा है, नवीन अभी आया नही। राजनीतिक समस्याओ को बडे लोग चाहे सँभाल भी ले, यद्यपि इसमे भी सन्देह है, परन्तु बहुत से ऐसे आर्थिक और सामाजिक प्रश्न है जिनका उसके जीवन से अन्तरङ्ग सम्बन्ध है। सब कुछ अनिश्चित है। उसे जीविका के लिये क्या करना होगा ? विवाह करे या न करे ? कब करे ? किससे करे ? कैसे करे ? घरवालो से खान-पान, रहन-सहन के विचार नही मिलते, उनके साथ रहे या अलग गृहस्थी बसाये ? पुरानी बहुत-सी रूढियाँ निरर्थक प्रतीत होती है, उनको माने या न माने ? न मानने मे घरवालो को जो कष्ट होता है वह देना ठीक है या नही ? यह और इसी प्रकार के हजारो दूसरे प्रश्न उसे पागल बनाये रहते है। परन्तु हमको उनका पता नही है। उसकी आध्यात्मिक नाडी पर हमारा हाथ जाता ही नही। लडके पढने आते है-पर हम और वह पृथक् पृथक् जगतो मे रहते है। वह जानते है कि उनको हमसे कोई परामर्श, कोई सहायता, कोई नैतिक सबल नही मिल सकता। हम उनकी मानस अवस्था को समझ ही नही पाते क्योकि हमने अपने को उन प्राणमयी तरङ्गो से

प्रभावित ही नहीं होने दिया है जो आज लाखों मनुष्यों के जीवन को उद्विग्न कर रही है। इस परिवर्तनकाल की विकट समस्याओं के सुलझाने में उन धार्मिक और नैतिक विश्वासों से भी काम नहीं चलता जो किसी समय लोगों को सहारा देते थे; आज वे भी तो शंका के क्षेत्र के भीतर आ गये हैं। स्कूल-कालिजों में जो आये दिन झगड़े होते रहते हैं उनका एक बड़ा कारण यह भी है। आज का विद्यार्थी प्रकृत्या दुष्ट नहीं है पर उसकी बुद्धि को अनेक प्रकार की चिन्ताओं ने क्षुब्ध कर रक्खा है। इन चिन्ताओं का उठना उसके लिए गौरव की बात है, परन्तु खेद यह है कि न हम उसकी कठिनाइयों को समझ सकते है, न उसको कोई सहायता दे सकते है। वह समवेदना का भिखारी है, और हम उसे विद्रोही समझकर दण्ड देने चलते है। इसी से संघर्ष होता है। अनुशासन तो रखना ही होगा पर वह दण्ड बहुत खलता है जिसके लिये अपना हृदय अपराध स्वीकार नहीं करता।

मैंने ऊपर कहा है कि समाज को यह अधिकार नहीं है कि हमको पुरस्कार, अधिकार और सत्कार की दृष्टि से शूद्र समझे और फिर भी हमसे ब्राह्मणवत् आचरण की आशा रक्खे। यह ठीक है। परन्तु समाज के कुकृत्य को समझते हुए भी हमको तो अपना कर्तव्य पालन करना ही है। हमको तो ब्राह्मण का ही आचरण करना है, तपस्वी जीवन बिताना है और विद्यादान को अपना धर्म समझना है जो ऐसा नहीं कर सकता वह सरस्वती के मन्दिर का पुजारी नहीं हो सकता। यदि हम अपने को पहचानें तो अपने त्याग और तप से फिर समाज का नेतृत्व प्राप्त कर सकते हैं। यह नेतृत्व हमारे स्वार्थ का साधन न होगा वरन् हमको सेवा करने का उपयुक्त अवसर देगा। इसके साथ ही अपने ब्राह्मणवर्ग के नेतृत्व में चलने से समाज का भी कल्याण होगा।

१.५ उद्देश्य

अध्यापक और समाज के सामने सबसे बडा प्रश्न है—शिक्षा किसलिये दी जाय ? शिक्षा का जैसा उद्देश्य होगा, तदनुसार ही पाठ्य-विषयो का चुनाव होगा। पर शिक्षा का उद्देश्य स्वतत्र नही है। वह इस बात पर निर्भर है कि मनुष्य-जीवन का उद्देश्य मनुष्य का सबसे बडा पुरुषार्थ क्या है। मनुष्य को उस पुरुषार्थ की सिद्धि के योग्य बनाना ही शिक्षा का उद्देश्य है।

पुरुषार्थ दार्शनिक विषय है पर दर्शन का जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध है। वह थोडे से विद्यार्थियो का पाठ्य-विषय मात्र नही है। प्रत्येक समाज को एक दार्शनिक मत स्वीकार करना होगा। उसी के आधार पर उसकी राजनीतिक, सामाजिक और कौटुम्बिक व्यवस्था का व्यूह खडा होगा। जो समाज अपने वैयक्तिक और सामूहिक जीवन को केवल प्रतीयमान उपयोगिता के आधार पर चलाना चाहेगा उसको बडी कठिनाइयो का सामना करना पडेगा। एक विभाग के आदर्श दूसरे विभाग के आदर्श से टकरायेगे। जो बात एक क्षेत्र मे ठीक जँचेगी वही दूसरे क्षेत्र मे अनुचित कहलायेगी और मनुष्य के लिए अपना कर्तव्य स्थिर करना कठिन हो जायगा। इसका तमाशा आज दीख पड रहा है। चोरी करना बुरा है पर पराये देश का शोषण करना बुरा नही है। झूठ बोलना बुरा है पर राजनीतिक क्षेत्र मे सच बोलने पर अडे रहना मूर्खता है। घरवालो के साथ, देशवासियो के साथ और परदेशियो के साथ बर्ताव करने के लिए अलग-अलग आचारावलियाँ बन गई है। इससे विवेकशील मनुष्य को कष्ट होता है, वह पग-पग पर धर्मसकट मे पड जाता है कि क्या करूँ। कल्याण इसी मे है कि खूब सोच-विचारकर एक व्यापक दार्शनिक मत अङ्गीकार किया जाय और फिर उसे सारे व्यवहार की नीव बनाया जाय। यह असम्भव प्रयत्न

नही है। प्राचीन भारत ने वर्णाश्रम-धर्म इसी प्रकार स्थापित किया था। वर्तमानकाल मे इसने मार्क्सवाद को अपने राष्ट्रीय जीवन की सभी चेष्टाओं का केन्द्र बनाया है। ऐसा करने से सभी उद्योग एक सूत्र मे बँध जाते है और आदर्श और कर्त्तव्यो के टकराने की सम्भावना बहुत ही कम हो जाती है।

इस निबन्ध मे दार्शनिक शास्त्रार्थ के लिये स्थान नही है। मै यहाँ इतना ही कह सकता हूँ कि मेरी समझ मे भारतीय सस्कृति ने पुराकाल मे अपने लिए जो आधार ढूँढ निकाला था, वह अब भी वैसा ही श्रेयस्कर है, क्योकि उसका सश्रय शाश्वत है।

आत्मा अजर और अमर है। उसमे अनन्त ज्ञान, शक्ति और आनन्द का भण्डार है। अकेले ज्ञान कहना भी पर्याप्त हो सकता है, क्योकि जहाँ ज्ञान होता है वही शक्ति होती है, और जहाँ ज्ञान और शक्ति होते है वही आनन्द भी होता है। परन्तु अविद्यावशात् वह अपने स्वरूप को भूला हुआ है। इसी से अपने को अल्पज्ञ पाता है। अल्पज्ञता के साथ अल्पशक्तिमत्ता आती है और इनका परिणाम दुःख होता है। भीतर से ऐसा प्रतीत होता है जैसे कुछ खोया हुआ है परन्तु यह नही समझ मे आता कि क्या खो गया है। उस खोई हुई वस्तु, अपने स्वरूप की निरन्तर खोज रहती है। आत्मा अनजान मे भटका करता है, कभी इस विषय की ओर दौडता है कभी उसकी ओर, परन्तु किसी की प्राप्ति से तृप्ति नही होती, क्योकि अपना स्वरूप इन विषयो मे नही है। जब तक आत्मसाक्षात्कार न होगा, तब तक अपूर्णता की अनुभूति बनी रहेगी और आनन्द की खोज भी जारी रहेगी। इस खोज में सफलता, आनन्द की प्राप्ति, अपने परम ज्ञानमय स्वरूप में स्थिति यही मनुष्य का पुरुषार्थ, उसके जीवन का चरम लक्ष्य है, और उसको इस पुरुषार्थ-साधन के योग्य बनाना ही शिक्षा का उद्देश्य है। वही राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था सबसे अच्छी है जिसमे पुरुषार्थ-सिद्धि मे सहायता मिल सके; कम से कम बाधाएँ तो न्यूनतम हो।

आत्मसाक्षात्कार का मुख्य साधन योगाभ्यास है। योगाभ्यास सिखाने का प्रबन्ध राज नहीं कर सकता, न पाठशाला का अध्यापक ही इसका दायित्व ले सकता है। जो इस विद्या का खोजी होगा वह अपने लिये गुरु ढूँढ लेगा। परन्तु इतना किया जा सकता है और यही समाज और अध्यापक का कर्तव्य है कि व्यक्ति के अधिकारी बनने में सहायता दी जाय, अनुकूल वातावरण उत्पन्न किया जाय।

यहाँ पाठ्य-विषयो की चर्चा करना अनावश्यक है, वह ब्योरे की बात है। परन्तु चरित्र का विकास ब्योरे की बात नही है। उसका महत्त्व सर्वोपरि है। चरित्र शब्द का भी व्यापक अर्थ लेना होगा। पुरुषार्थ को सामने रखकर ही चरित्र सँवारा जा सकता है। प्रत्येक छात्र की आत्मा अपने को ढूँढ रही है पर उसे इसका पता नही है। अज्ञानवशात् वह उस आनन्द को, जो उसका अपना स्वरूप है, बाहरी चीजो में ढूँढती है। जब कोई अभिलषित वस्तु मिल जाती है तो थोडी देर के लिये सुख का अनुभव होता है परन्तु थोडी ही देर के बाद चित्त किसी और वस्तु की ओर जा दौडता है, क्योकि जिसकी खोज है वह कही मिलता नही। सब इसी खोज मे है। ऐसी दशा मे आपस मे सघर्ष होना स्वाभाविक है। यदि दस आदमी अँधेरी कोठरी मे टटोलते फिरेगे तो बिना टकराये रह नही सकते। एक ही वस्तु की अभिलाषा जब दो या अधिक मनुष्य करेगे तो उनमे अवश्य ही मुठभेड होगी। चीज का उपभोग तो कोई एक ही कर सकेगा। इस प्रकार ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध बढते रहते है। ज्ञान और शक्ति की कमी से सफलता कम ही मिलती है। इससे अपने ऊपर ग्लानि होती है, दृश्यमान सुखो के नीचे एक मूक वेदना टीसती रहती है।

यह अध्यापक का काम है कि वह अपने छात्र मे चित्त एकाग्र करने का अभ्यास डाले। एकाग्रता ही आत्मसाक्षात्कार की कुजी है। एकाग्रता का उपाय यह है कि छात्र मे मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा का भाव उत्पन्न किया जाय और उसे निष्काम कर्म मे प्रवृत्त किया जाय। दूसरे के सुख को देखकर सुखी होना मैत्री और दुःख को देखकर दुखी होना

करणा है। किसी को अच्छा काम करते देखकर प्रसन्न होना और उसका प्रोत्साहन करना मुदिता और दुष्कर्म का विरोध करते हुए अनिष्टकारी से शत्रुता न करना उपेक्षा है। ज्यों-ज्यों यह भाव जागते हैं त्यों-त्यों ईर्ष्या-द्वेष की कमी होती है। निष्काम कर्म भी राग-द्वेष को नष्ट करता है। ये बातें हँसी-खेल नहीं हैं परन्तु चित्त को उधर फेरना तो होगा ही, सफलता चाहे बहुत धीरे ही प्राप्त हो। इस प्रकार का प्रयास भी मनुष्य को ऊपर उठाता है।

निष्कामिता की कुंजी यह है कि अपना ख्याल कम और दूसरों का अधिक किया जाय। आरम्भ से ही परार्थसाधन, लोकसंग्रह और जीव-सेवा के भाव उत्पन्न किये जायँ। जब कभी मनुष्य से थोड़ी देर के लिए सच्ची सेवा बन पड़ती है तो उसे बड़ा आनन्द मिलता है। भूखे को अन्न देते समय, जलते या डूबते को बचाते समय, रोगी की शुश्रूषा करते समय कुछ देर के लिए उसके साथ तन्मयता हो जाती है, मैं-पर का भाव तिरोहित हो जाता है। उस समय अपने 'स्व' की एक झलक मिल जाती है। मैं-तू के कृत्रिम भेदों के परे जो अपना सर्वात्मक, शुद्ध स्वरूप है, उसका साक्षात्कार हो जाता है। जो जितने ही बड़े क्षेत्र के साथ तन्मयता प्राप्त कर सकेगा, उसको आनन्द और स्वरूप-दर्शन की उतनी ही उपलब्धि होगी। हमारी सुविधा और चरित्र-निर्माण के लिये यह तो नहीं हो सकता कि लोग आये दिन डूबा और जला करें या भूख-प्यास से तड़पा करें, परन्तु सेवा के अवसरों की कमी भी कभी नहीं होती। सेवा करने में भाव यह न होना चाहिए कि मैं इसका उपकार कर रहा हूँ, वरन् यह कि इसकी बड़ी कृपा है जो मेरी तुच्छ सेवा स्वीकार कर रहा है। यह भी याद रहे कि सेवा केवल मनुष्य की नहीं, जीव-मात्र की करनी है। पशु-पक्षी-कीट-पतंग के भी स्वत्व होते हैं; उनका भी आदर करना है।

चित्त को क्षुद्र वासनाओं से विरत करने का एक बहुत बड़ा साधन कला है। काव्य, चित्र, सङ्गीत आदि का जिस समय रस मिला करता है उस समय भी शरीर और इन्द्रियों के बन्धन ढीले पड़ गये होते हैं और

चित्त आध्यात्मिक जगत् मे खिच जाता है। यही बात प्रकृति के निरीक्षण से भी होती है। प्रकृति का उपयोग निकृष्ट कोटि के काव्य मे कामोद्दीपन के लिये किया जाता है परन्तु वह शान्त रस का भी उद्दीपन करती है। अध्यापक का कर्त्तव्य है कि छात्र मे सौन्दर्य के प्रति प्रेम उत्पन्न करे। यह स्मरण रखना चाहिए कि सौन्दर्य-प्रेम भी निष्काम होता है। जहाँ तक यह भाव रहता है कि मै इसका अमुक प्रकार से उपयोग करूँ, वहाँ तक उसके सौन्दर्य की अनुभूति नही होती। सौन्दर्य के प्रत्यक्ष का स्वरूप तो यह है कि द्रष्टा अपने को भूलकर तन्मय हो जाय।

कहने का तात्पर्य यह है कि छात्र के चरित्र को इस प्रकार विकास देना है कि वह मै तू के ऊपर उठ सके। जहाँ तक उपयोग का भाव रहेगा, वहाँ तक स्वाम्य की आकाक्षा होगी। यह वस्तु मेरी होकर रहे इसी मे सघर्ष और कलह होता है। परन्तु सेवा और सुकृत मे सघर्ष नही हो सकता। हम, तुम, सौ आदमी सच बोले, धर्माचरण करे, उपासना करे, लोगो के दुख निवारण करे, इसमे कोई झगडा नही है, परन्तु इस वस्तु को मै लूँ या तुम, यह झगडे का विषय हो सकता है, क्योकि एक वस्तु का उपयोग एक समय मे प्राय एक ही मनुष्य कर सकता है। गाना हो रहा हो, आकाश मे तारे खिले हो, फूलो की सुवास से लदी समीर बह रही हो, इनके सुख को युगपत् हजारो व्यक्ति ले सकते है। काव्य-पाठ से मुझको जो आनन्द होता है वह आपके आनन्द को कम नही करता। इसीलिए प्राचीन आचार्यो ने धर्म की दीक्षा दी थी। आज भी अध्यापक को, चाहे उसका विषय गणित हो या भूगोल, इतिहास हो या तर्कशास्त्र, अपने शिष्यो मे धर्म की प्रवृत्ति उत्पन्न करनी चाहिए। धर्म का तात्पर्य पूजा-पाठ नही है। धर्म उन सब कामो की समष्टि का नाम है जो कल्याणकारी है। अपना कल्याण समाज के कल्याण से पृथक् नही हो सकता। मनुष्य के बहुत से ऐसे गुण है जिनका विकास समाज मे रहकर ही होता है और बहुत-से ऐसे भोग और सुख है जो समाज मे ही प्राप्त हो सकते है। इसलिए समाज को ध्यान में रखकर

ही धर्म का आदेश होता है। परन्तु हमारे समाज मे केवल मनुष्य नही है। हम जिस समाज के अङ्ग है उसमे देव भी है, पशु भी है, मनुष्य भी है। इन सब का हम पर प्रभाव पडता है, सब का हमारे ऊपर ऋण है, इसलिए सब के प्रति हमारा कर्तव्य है। हमको इस प्रकार रहना है कि हमारे पूर्वज संस्कृति का जो प्रकाश हमारे लिये छोड गये है, उसका लोप न होने पाये—हमारे पीछे आनेवालो तक वह पहुँच जाये। इसलिए हमारे कर्त्तव्यो की डोर पितरो से लेकर वशजो तक पहुँचती है। इसी विस्तृत कर्त्तव्यराशि को धर्म कहते है। आज सब अपने-अपने अधिकारो के लिए लडते है। इस झगडे का अन्त नही हो सकता। यदि धर्म-बुद्धि जगाई जाय और सब अपने-अपने कर्तव्यो मे तत्पर हो जाएँ तो विवाद की जड ही कट जाय और सब को अपने उचित अधिकार स्वत प्राप्त हो जायँ। और लोग हमारे साथ कैसा व्यवहार करते है इसकी ओर कम, और हम खुद औरो के साथ कैसा आचरण करे इसकी ओर अधिक ध्यान देने की आवश्यकता है।

परन्तु इस बुद्धि की जड तभी दृढ हो सकती है जब चित्त मे सत्य के लिये निर्बाध प्रेम हो। सभी शास्त्र इस प्रेम को उत्पन्न कर सकते है पर शर्त यह है कि ज्ञान औषध की घूंट की भाँति ऊपर से न पिला दिया गया हो। सत्य को धारण करने के लिये अनुसन्धान और आलोचना की बुद्धि का उद्बोधन होना चाहिए। यह बुद्धि निर्भयता के वातावरण में ही पनप सकती है। अध्यापक को यथाशक्य यह वातावरण उत्पन्न करना है।

इससे यह स्पष्ट हो गया होगा कि अध्यापक को अपने छात्र मे कैसा चरित्र विकसित करने का प्रयत्न करना चाहिए। अच्छे उपाध्याय के निकट पढा हुआ स्नातक सत्य का प्रेमी और खोजी होगा। उसके चित्त मे जिज्ञासा ज्ञान का आदर होगा और हृदय मे नम्रता, अनसूया, प्राणिमात्र के लिए सौहार्द। वह तपस्वी, सयमी और परिश्रमी होगा, सौन्दर्य्य का उपासक होगा और हर प्रकार के अन्याय, अत्याचार और कदाचार का निर्मम विरोधी होगा। धर्म और त्याग उसके जीवन की प्रबल प्रेरक शक्तियाँ होगी। उसका सदैव यह प्रयत्न होगा कि यह पृथिवी

अधिक सभ्य और सस्कृत हो, समाज अधिक उन्नत हो। इसका तात्पर्य यह नही है कि सब सन्यासी होगे। गृहस्थ पर धर्म का भार सन्यासी से कम नही होता। व्यापार, शासन, कुटुब के क्षेत्रो मे भी धर्म का स्थान है। यह भी दावा नही किया जा सकता कि इन लोगो मे राग-द्वेष का नितान्त अभाव हो जायगा, कोई दुराचारी होगा ही नही। अध्यापक और समाज प्रयत्न-मात्र कर सकते है। इस प्रयत्न का इतना परिणाम तो नि सन्देह होगा कि बहुत से लोग ठीक राह पर लग जाएँगे और अपने पुरुषार्थ को पहचानने लगेगे। पथभ्रष्ट भी होगे, गिरेगे भी, पर अपनी भूलो पर आप ही पश्चात्ताप करेगे और इन गलतियो को सीढी बनाकर आत्मोन्नति करेगे। भूल करना बुरा नही है, भूल को भूल न समझना ही बडा दुर्भाग्य है।

यह मानी हुई बात है कि अकेला अध्यापक ऐसा मनोभाव नही उत्पन्न कर सकता। उसको सफलता तभी मिल सकती है जब समाज उसकी सहायता करे। जिस प्रदेश मे कलह मचा रहता हो, जिस समाज मे गरीब-अमीर, ऊँच-नीच की विषमता पुकार-पुकारकर द्वन्द्व और प्रतियोगिता को प्रोत्साहन दे रही हो, जिस राष्ट्र की नीति परस्वत्वापहरण और शोषण पर खडी हो, उसमे अध्यापक अकेला भला क्या करे? जिन घरों मे दाल-रोटी का ठिकाना न हो, पिता मद्यप और माता स्वैरिणी हो, बाप-माँ मे मार-पीट गाली-गलौज मची रहती हो, उनके बच्चो को तो पालने मे ही मानस-विष दे दिया जाता है। तग गलियो और गदे घरो के रहनेवाले, जो छोटे वय से अश्लीलता और अभद्रता में ही पले है, सौन्दर्य को जल्दी नही समझ पाते। ऐसी दशा मे अध्यापक को दोष देना अन्याय है। फिर भी अध्यापक परिस्थितियो को दोष देकर बैठा नही रह सकता। उसको तो अपना कर्त्तव्य-पालन करना ही है, सफलता कम हो या अधिक।

साधारणत शिक्षक योगी नही होता पर उसका भाव वही होना चाहिए जो किसी योगी का अपने शिष्य के प्रति होता है "अनेक

शरीरो मे भ्रमते हुए आज इसने नर-देह पाई है और मेरे पास छात्र-रूप मे आया है। यदि मै इसको ठीक मार्ग पर लगा सका, इसके चरित्र के यथोचित विकास प्राप्त करने मे सबल जुगा सका, तो समाज का भला होगा और इसका न केवल ऐहिक, वरन् आमुष्मिक कल्याण होगा। यदि इसे आगे शरीर धारण भी करना पडा तो वह जन्म इस जन्म से ऊँचे होगे। इस समय यह बात-बात मे परिस्थितियो से अभिभूत हो जाता है। इसकी स्वतत्र आत्मा प्रतिक्षण अपने बन्धनो को तोडना चाहती है पर ऐसा कर नही पाती। यदि इसकी बुद्धि को शुद्ध किया जाय और क्षुद्र वासनाओ से ऊपर उठाया जाय, तो आत्मा परिस्थितियो पर विजय पाने मे समर्थ होने लगेगी और इसको अपने अनन्त ज्ञान-शक्ति-आनन्दमय स्वरूप का आभास मिलने लगेगा। इस प्रकार यह अपने परम पुरुपार्थ को सिद्ध करने का अधिकारी बन सकेगा।" इस भावना से जो अध्यापक प्रेरित होगा वह अपने शिष्य के कामो को उसी दृष्टि से देखेगा जिससे बडा भाई अपने घुटनो के बल चलनेवाले छोटे भाई की चेष्टाओ को देखता है। उसकी भूलो को तो ठीक करना ही होगा, परन्तु सहानुभूति और प्रेम के साथ।

यह आदर्श बहुत ऊँचा है, पर अध्यापक का पद भी तो कम ऊँचा नही है। जो वेतन का लोलुप है और वेतन की मात्रा के अनुसार ही काम करना चाहता है उसके लिए इसमे जगह नही है। अध्यापक का जो कर्त्तव्य है उसका मूल्य रुपयो मे नही आँका जा सकता। किसी समय जो शिक्षक होता था वही धर्म-गुरु और पुरोहित भी होता था और जो बडा विद्वान् और तपस्वी होता था वही इस भार को उठाया करता था। शिष्य को ब्रह्मविद्या का पात्र और यजमान को दिव्य लोको का अधिकारी बनाना सबका काम नही है। आज न वह धर्म-गुरु रहे, न वह पुरोहित। पर क्या हम शिक्षक भी इसीलिए कर्त्तव्यच्युत हो जाएँ? हमको तो अपने सामने वही आदर्श रखना चाहिए और अपने को उस दायित्व का बोझ उठाने के योग्य बनाने का निरन्तर अथक प्रयत्न करना चाहिए।

न्याय, [illegible] और [illegible]

न्याय शब्द का बोल-चाल मे इतना व्यवहार होता है कि ऐसा प्रतीत होता है कि इसका ठीक-ठीक अर्थ सभी समझते होगे। ईश्वर के यहाँ न्याय होता है, सरकार को न्याय करना चाहिए, अमुक मनुष्य अन्याय कर रहा है, ऐसे वाक्य बराबर सुनने मे आते है। इन तीन वाक्यो मे जो एक ही न्याय शब्द व्यवहृत हुआ है उसका अर्थ स्थूल रूप से सुबोध भले ही हो परन्तु उसको समझाना सुकर नही है। ईश्वर पदवाच्य कोई व्यक्तिविशेष हो या न हो पर यहाँ हम ऐसा माने लेते है कि किसी प्रकार का दैवी विधान है जिसके अनुसार कर्मो की परख होती है और लोगो को यथावत् फल मिलता है। फल दो प्रकार के होते है सुख और दुख। दैवी विधान कुछ कर्मो के लिये, जिनको पुण्य कहा जाता है, सुख देता है और दूसरे कर्मो के लिए, जिनको पाप कहा जाता है, दुख देता है। पक्षपातरहित होकर यह सुख-दुखरूपी पुरस्कार और दण्ड देना ईश्वरीय न्याय है। सरकारी न्याय मे कुछ कर्मो के लिये दण्ड तो होता है परन्तु उसमे पुरस्कार के लिए प्राय स्थान नही होता। दोनो के क्षेत्र भी पृथक्-पृथक् है। बहुत से ऐसे काम है जो सरकारी विधान की दृष्टि मे अकरणीय अत दण्डनीय है परन्तु दैवी विधान उनको न भला समझ सकता है न बुरा, ऐसे भी काम है जो दैवी विधान मे दण्ड्य होगे परन्तु सरकारी न्याय उनकी ओर से उदासीन है, ऐसा भी हो सकता है कि कोई काम सरकारी न्याय मे बुरा हो और ईश्वरी न्याय मे अच्छा। सडक की बाई पटरी से न चलना सरकार के न्यायालय मे दण्ड्य हो सकता है पर ईश्वरीय न्यायालय मे उपेक्षणीय होगा, सरकारी न्यायालय मे असत्य, असूया, जीवहिसा अपराध नही है। किसी लोक-द्रोही दुराचारी को मार डालना चाहे पुण्य भले ही हो पर सरकार के यहाँ दण्ड्य है। साधारण

मनुष्य न ईश्वर है न सरकार अत उसके कामो का क्षेत्र तो दोनो से सकुचित है।

इतना सब भेद होते हुए, एक ही शब्द का प्रयोग इस बात की ओर सकेत करता है कि लोक-बुद्धि को इन विभिन्नताओ के पीछे कोई समानता देख पडती है। यदि विचार किया जाय तो यह प्रतीत होगा कि जो उचित है अर्थात् जो होना चाहिए उसको लोग न्याय अर्थात् न्यायानुकूल समझते है। पर इतना कह देने से प्रश्न पर कोई विशेष प्रकाश नही पडता। 'जो होना चाहिए उसको करना न्याय है' कहने पर भी मुख्य प्रश्न ज्यो का त्यो रह जाता है, केवल शब्द बदल जाते है। मुख्य प्रश्न का नया रूप यह हो जाता है 'क्या होना चाहिए?' 'क्या किया जाना चाहिए?' यह प्रश्न उस जाति का है जिसको विभज्यवचनीय कहते है। इसका एक उत्तर नही हो सकता। परिस्थिति के अनुसार कर्त्तव्य का स्वरूप बदलता रहेगा, अर्थात् प्रश्न का उत्तर बदलता रहेगा। तब हमको प्रश्न को व्यापक रूप देकर व्यापक उत्तर ढूंढने के स्थान मे प्रत्येक अवसर पर यह पूछना पडेगा कि 'इस अवसर पर क्या किया जाना चाहिए?' इसका जो निर्णय होगा वही उस अवसर के लिए न्याय होगा। यह बात ठीक तो है परन्तु अवसर विशेष पर कर्त्तव्य का निश्चय होगा कैसे? यदि इस प्रकार के निश्चय के लिए कोई ऐसी कसौटी न मिल सकी जो सर्वमान्य हो तो फिर प्रत्येक व्यक्ति अपने तात्कालिक रागद्वेष के अनुरूप निर्णय करेगा और जिसे एक न्याय कहेगा उसे ही दूसरा अन्याय कहेगा। इस प्रकार तो न्याय शब्द ही अर्थहीन हो जायगा और लोकबुद्धि को उसके प्रति जो श्रद्धा है वह निराश्रय हो जायगी। परन्तु आज तक श्रद्धा चली आ रही है, यद्यपि पदे-पदे अन्याय की ठोकरे खानी पडती है। इससे यह विदित होता है कि लोगो के चित्त मे किसी न किसी प्रकार की सार्वभौम परख है, चाहे वह उसको ठीक-ठीक शब्दो मे परिभाषा के रूप मे व्यक्त न कर सकते हो। न्याय के स्वरूप को पहचानने के लिए हमको इसी अव्यक्त विचार की खोज करनी है।

पहले ईश्वरीय न्याय को लीजिये। यहाँ पहले ही यह प्रश्न उठ सकता है कि ईश्वर की सत्ता का क्या प्रमाण है और यदि वह है भी तो जगत् से उसका कैसा सम्बन्ध है? यह महत्त्व के प्रश्न है पर यहाँ हमको इन पर विचार करने की आवश्यकता नहीं है। ईश्वर हो या न हो परन्तु हिन्दू, बौद्ध, जैन, पारसी, ईसाई और मुसलमान, यहूदी थोडे मे वह सब लोग जो अपने को किसी धर्म्म या सम्प्रदाय के अन्तर्गत मानते हैं, ऐसा स्वीकार करते है कि कुछ कर्म्मों का, जिनको वह सत्कर्म्म कहते है, अच्छा और दूसरे कर्म्मों का जिनको वह दुष्कर्म्म कहते है, बुरा परिणाम होता है। सत्कर्म दुष्कर्म की सूचियो मे और अच्छे बुरे परिणामो के स्वरूप कथन मे आपस मे मतभेद हो सकता है परन्तु इतना यह सब मानते है कि भलाई का पुरस्कार और बुराई का दण्ड मिल कर रहता है। यही ईश्वरीय न्याय, दैवी न्याय, कर्म का अटल विधान या नियति है। नियति किसी के लिए बदल नही सकती। यदि ऐसा होने लगे कि किसी व्यक्ति विशेष को बुरे काम का दण्ड न मिले या अच्छे काम का पुरस्कार न मिले या, इसके विपरीत, अच्छे काम के लिए दण्ड और बुरे काम के लिए पुरस्कार मिले, तो नियति की शृङ्खला टूट जायगी। लोगो को यह दृढ विश्वास है कि शृङ्खला कभी नही टूटती। भले ही पुरस्कार और दण्ड हमारी आँखो के सामने तत्काल न मिलते हो पर दूध का दूध पानी का पानी होकर रहता है। अच्छे बुरे कामो के सम्बन्ध मे प्रत्येक सम्प्रदाय का धर्म्म-शास्त्र आदेश देता है और प्रत्येक ऐसे आदेश का यह दावा है कि या तो वह ईश्वरप्रेरित है या किसी ऐसे महात्मा की घोषणा है जो एक प्रकार से ईश्वरकल्प कहा जा सकता है। इस विषय पर बहुत विस्तार से तो विचार नही करना है पर यही छोड देना भी ठीक न होगा। इसलिए मै सक्षेप मे एतत्सम्बन्धी वैदिक मत का वर्णन कर देता हूँ। थोडे से हेरफेर मे अन्य सभी सम्प्रदायो के मत इसी के भीतर आ जाते है।

इस जडचेतनात्मक जगत् के मूल मे एक ही पदार्थ है। जड और चेतन, प्रधान और पुरुष, उसी की अभिव्यक्तियाँ है। जड चेतन के आघात-

प्रतिघात से जगत् का संकोच विकास होता रहता है। जहाँ उस मूल पदार्थ के जड और चेतन दो रूप है वहाँ उसका एक तीसरा रूप भी है जिसे कर्म या नियति कहते है। इसके भी दो रूप है, ऋत और सत्य। प्राकृतिक जगत् मे ऋत का साम्राज्य है। परमाणु का स्फुरण, विद्युत, प्रकाश, ताप और शब्द का स्पन्दन, *प्रवह के द्वारा नीहारिकाओं और नक्षत्रो का परिचालन, भोजन का पचना और पत्ते का खडकना, यह सब ऋत के अनुसार होता है। जहाँ नियम देख पडता है वहाँ भी ऋत है और जहाँ हमको अपवाद सा जान पडता है वहाँ भी ऋत है। मनुष्य भी ऋत के बाहर नहीं है। उसकी अवहेलना करने का परिणाम व्याधि, पीडा और मृत्यु है परन्तु उसको पहिचान कर उसका अनुसरण करने से विभूति और सुख की प्राप्ति होती है। विज्ञान का उपयोग इस बात का प्रमाण है। परन्तु ऋत केवल भौतिक जगत् मे काम नही करता। इन्द्रियो का विषयों से आकृष्ट होना, चित्त मे क्लिष्टाक्लिष्ट वृत्तियो का उठना, अनुभवो से सामान्य स्मृति का और उस अस्फुट स्मृति का, जो जन्मान्तर तक संस्काररूप से बनी रहती है, उत्पन्न होना, संस्कारो के कारण वासनाओं का उदय होना, यह सब भी ऋत के अधीन है। जो व्यक्ति ऋत के इस अंश को पहिचानता है वह कुशल कलाकार, राजपुरुष, प्रचारक, शिक्षक और व्यवहारविद् होता है। परन्तु केवल ऋत की सत्ता को स्वीकार करने या उसके स्वरूप को थोडा-बहुत पहिचान लेने से काम नही चलता। इसका परिणाम भयंकर हो सकता है। आज का इतिहास इस बात का साक्षी है कि भौतिक विज्ञान और मनोविज्ञान की सहायता से दुरुद्देश्य-प्रेरित अधिकारी मनुष्य समाज का घोर अनर्थ कर सकते हैं। यह सब

* प्रवह पुरानी पुस्तको मे लिखा है कि ग्रह-नक्षत्र प्रवह वायु द्वारा परिचालित होते है। यदि वायु का अर्थ हवा हो तब तो यह कथन अवैज्ञानिक है परन्तु 'भारतीय सृष्टिक्रम विचार' मे मैंने दिखलाया है कि वायु का अर्थ शक्ति है। अतः प्रवह वायु आकर्षण जैसी उन शक्तियो के समुच्चय का नाम है जिसने इन पिण्डो को गति दे रक्खी है।

इसीलिए होता है कि केवल ऋत से काम लिया जा रहा है। इस बुराई को दूर करने के लिए उस तत्त्व पर जो नियति का दूसरा रूप है, जिसका ऋत के साथ वैसा ही सहज सम्बन्ध है जैसा कि पैसे के एक पट का दूसरे पट से होता है, दृष्टि डालनी होगी। यह तत्व सत्य है। सत्य का अर्थ सच बोलना या वस्तुस्थिति मात्र नही है। जिस मार्ग का अवलबन करने से मनुष्य का कल्याण होता है उसका नाम सत्य है। ऋत और सत्य का अटूट सम्बन्ध है। हमारे आचरण से ऋत अर्थात् बौद्धिक और भौतिक जगत् प्रकम्पित होता है और ऋत की परिधि के भीतर ही हमारा आचरण हो सकता है।

सत्य का लक्षण हमने यह बतलाया है कि उससे कल्याण होता है। इस बात को समझने के लिए कल्याण के स्वरूप को जानना आवश्यक होता है। कल्याण या नि श्रेयस दर्शन का मुख्यतम विषय है परन्तु यहाँ हम उस शास्त्रार्थ मे नही पड सकते। इतना कहा जा सकता है कि कल्याण का एक बडा लक्षण यह है कि उसमे दु ख का अत्यन्ताभाव, आशिक नही सम्पूर्ण अभाव, होता है। दूसरा बडा लक्षण यह है कि मनुष्य अपने स्वरूप का, अपनी शक्तियो का, पूरा-पूरा निर्बाध अनुभव करता है। इसका निष्कर्ष यह निकला कि जिस मार्ग से व्यवहार करने से इस दु ख-हानि और स्वरूपानुभव की प्राप्ति हो वह सत्य है। सत्य का बहुत कुछ ज्ञान गम्भीर विचार से प्राप्त होता है। सक्षेप मे, उसको व्यास के शब्दो मे 'आत्मन प्रतिकूलानि, परेषु न समाचरेत्' (जो अपने को अच्छा न लगे वह आचरण दूसरो के साथ न करे) या ईसा के शब्दो मे 'दूसरो के साथ वैसा ही प्रेम करो जैसा तुम अपने साथ करते हो' कह कर व्यक्त कर सकते है। इसी को वेदान्त के आचार्य यो कहते है "जहाँ द्वैतबुद्धि है वही दु ख और भय है। जब तक द्वैत का अज्ञान रहेगा तब तक दु ख का अन्त नही हो सकता। इस अज्ञान को दूर करना ही नि श्रेयस है। सर्वत्र अपनी ही आत्मा का आभास देखना सत्य का मार्ग है।" इसका तात्पर्य यह है कि वह आचरण जो मैं-तू, मेरा-तेरा के भेद-भाव पर अवलम्बित, दु ख-

परिणामी और सत्यविरोधी है। जो आचरण इसके ऊपर उठता है वह कल्याणकारी और सत्यानुकूल है। जो मनुष्य जितना ही अपने चित्त को संयत करता है और सत्यानुगामी होता है उसको ऋत और सत्य का उतना ही गम्भीर ज्ञान होता है। ऋत और सत्य का दूसरा नाम धर्म भी है, इसलिए इस प्रकार के ज्ञान को धर्म का साक्षात्कार भी कहते है। योगियो को धर्म का यथावत् और परिपूर्ण साक्षात्कार होता है। वह नियति के स्वरूप के यथार्थ ज्ञाता होते है।

जो लोग ईश्वरीय या दैवी न्याय या कर्मविधान का नाम लेते है उनका आशय यह होता है कि जगत् मे ऋत और सत्य बराबर काम करते है। कोई इनका उल्लघन नही कर सकता। जिस प्रकार आग पर रखने से हाथ जल जायगा, छत पर से कूदने से शरीर नीचे गिरेगा, पानी न देने से पौधा सूख जायगा, हवा न मिलने से मृत्यु हो जायगी उसी प्रकार कोई भी ऐसा आचरण जिसके मूल मे राग और द्वेष हो, अर्थात् जिसका यह लक्ष्य हो कि मुझको अमुक वस्तु प्राप्त हो, चाहे दूसरो को न मिले, हानिकर, दुखकर होगा। जितनी ही मात्रा दूसरो से छीनने या दूसरो को न मिलने देने के भाव की होगी उतनी ही मात्रा परिणाम मे दुख की होगी। दुख भी कुछ तो आधिभौतिक और आधिदैविक होते है अर्थात् बाहर से पहुँचाये जाते है और कुछ आध्यात्मिक होते है। ईर्ष्या और चिन्ता से मन ही मन जलना तथा राग-द्वेष की उग्रता से कलुषित हुई बुद्धि से प्रेरित होकर ऐसे काम कर बैठना जिनका अवश्यम्भावी परिणाम आधिभौतिक या आधिदैविक दुख हो, आध्यात्मिक दुख का स्वरूप है।

अस्तु, तो जहाँ तक ईश्वरीय न्याय का प्रसङ्ग है वहाँ ऐसा माना जाता है कि ऋत और सत्य अर्थात् धर्म का अनुसरण नियति के अनुकूल है, इसलिए उचित और कर्त्तव्य है। जो धर्माचरण करता है वह इसका पुरस्कार पाता है अर्थात् दुख और अज्ञान के ऊपर उठता है और जो इसके विरुद्ध आचरण करता है वह निरन्तर एक दुख से दूसरे दुख के चगुल मे फँसता रहता है। इस क्रम मे कभी व्यवच्छेद नही होता। इस न्याय का यही

स्वरूप है। इसको ईश्वरीय न्याय भले ही कहा जाय परन्तु ईश्वरोपासना से इसका कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नही है। न उपासक के लिए नियम मे किसी प्रकार की रत्ती भर ढिलाई हो सकती है न अनुपासक के लिए अधिक कडाई, न ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करने के लिए कोई विशेष पुरस्कार मिलता है न उसको अस्वीकार करने के लिए कोई विशेष दण्ड।

राज और न्याय

अब हमको न्याय के उसी बडे क्षेत्र पर दृष्टि डालनी है जिसका सम्बन्ध राज से है। जन-साधारण की ऐसी धारणा है कि राज का आधार न्याय है, अर्थात् जब राज के सामने दो व्यक्ति आते है तो वह उनके विवाद को न्याय के अनुसार निपटाता है। दूसरे शब्दो मे यह कह सकते है कि जो उचित होता है, जो करना चाहिए, राज उसे ही करता है। यदि ऐसा नही होता तो लोग कहते है कि अन्याय हो रहा है। देखना यह है कि उस न्याय का, जिसकी आशा राज से की जाती है, आधार क्या है। दूसरे शब्दो मे, इस बात की परख क्या है कि राज न्याय कर रहा है? इसके लिए एक उत्तर यह दिया जाता है कि न्याय वह व्यवस्था है जिसमे सब अपने अधिकारो का उपभोग करते है और यदि कोई किसी के अधिकार पर हस्तक्षेप करता है तो उसे समुचित दण्ड दिया जाता है। न्याय के इस लक्षण के सम्बन्ध मे कुछ प्रश्न स्वभावत उठते है (१) लोगो के अधिकार है क्या? उनका स्रोत क्या है? (२) वह 'सब' लोग कौन है जिनके अधिकारो की रक्षा राज करता है? (३) समुचित दण्ड किसे कहेगे? (४) कोई राज सचमुच सबके अधिकारो की इस प्रकार रक्षा करता है? और (५) किस अवस्था मे राज इस कर्तव्य का पालन कर सकता है?

बहुत से विद्वानो का यह मत है कि अधिकारो का स्रोत स्वय राज है। जो जगली पशु स्वच्छन्द घूमा करते है उनके अधिकार नही होते। उनके लिए बाहुबल का ही दूसरा नाम अधिकार है। यदि

मनुष्य भी कभी यों ही रहा करते थे तो उस समय उनके भी कोई अधिकार न थे। समाज मे एक दूसरे के साथ मिलकर रहने से और इस प्रकार अपनी स्वच्छन्दता खोने से ही अधिकारो की उत्पत्ति होती है। अधिकारो की रक्षा के लिए मनुष्य का जो सघटन है उसका ही नाम राज है। हमारे एक दूसरे के साथ अध्यापक और छात्र, उत्पादक और ग्राहक, स्वामी और भृत्य, पति और पत्नी इत्यादि अनेक प्रकार के सम्बन्ध है। इन सम्बन्धो के कारण हम एक दूसरे के साथ अनेक प्रकार के व्यवहार करते रहते है। प्रत्येक मनुष्य चाहता है कि दूसरे मेरे साथ अमुक अमुक प्रकार से व्यवहार करे। पर यह इच्छा सदा फलीभूत नही होती। ऐसी दशा मे राज के पास जाना पडता है। राज मेरे साथ जिस प्रकार का व्यवहार करने के लिए लोगो को बाध्य करता है वही मेरा अधिकार है। धर्मशास्त्र, पचायत, स्थानीय प्रथा आदि चाहे जो कुछ कहे परन्तु जो बात राज को मान्य नही है, जिस बात के पीछे राज अपनी शक्ति लगाने को तैयार नही है, वह अधिकार कोटि मे नही है। यह अनिवार्य नही है कि राज ने प्रत्येक विषय पर स्वय विधान बनाया हो। बहुत से स्थलो पर राज अपने बनाये कानूनो के अभाव मे धर्मशास्त्र या दस्तूर के अनुसार काम करता है परन्तु शास्त्र या दस्तूर को मान्यता राज से ही प्राप्त होती है। अधिकार का प्रतियोगी कर्त्तव्य होता है। जहाँ एक के अधिकार का निर्देश होता है वही दूसरे के कर्त्तव्य का भी सकेत हो जाता है। यदि जमीनदार को यह अधिकार है कि भूमि के किसी टुकडे के लिए १५) लगान ले तो किसान का यह कर्त्तव्य है कि उस टुकडे के लिए १५) दे। इस प्रकार कर्त्तव्यो का उद्गम भी राज ही हुआ। जिस काम को अपनी शक्ति लगाकर कराने को राज तैयार हो वह कर्त्तव्य है। चाहे वह काम राज के बनाये किसी विधान मे स्पष्ट रूप से उल्लिखित हो या धर्मशास्त्र या दस्तूर से निर्गत हुआ हो, उसकी कर्त्तव्यता अन्ततोगत्वा राज से ही प्राप्त हुई है। राज प्रजा पर बन्धन लगाता है, उस पर स्वय कोई बन्धन नही होता। जब तक उसके हाथ मे शक्ति है, जब तक वह

अपनी आज्ञा मनवा सकता है, तब तक अधिकार और कर्तव्य निश्चित करने में वह स्वतंत्र और अबाध है। यदि राज चाहे तो ऐसा कानून बना सकता है कि जिस किसी को किसी गायक का आलाप नापसन्द हो उसके मना करने पर गानेवाले को चुप हो जाना चाहिए। इस प्रकार गाने के द्वेषियों को एक नया अधिकार मिल जायगा। राज चाहे तो ऐसा विधान कर सकता है कि प्रत्येक पहली सन्तान नदी में फेंक दी जाय। जनता को तत्काल ही एक नया कर्तव्य मिल जायगा। ऐसे कानून प्रायः नहीं बनते पर बन सकते हैं। पृथिवी पर समय-समय पर विचित्र विधान रहे हैं। इसी भारत में एक जैन राजा कपड़े में से जुएँ मारने पर मनुष्य को मरवा डालते थे। इस मत का निष्कर्ष यह निकला कि जो कुछ राज की इच्छा के अनुकूल है वह न्याय है क्योंकि राज उसी का समर्थन करेगा, लोग उसी का उपभोग कर सकेंगे।

जब यह बात इस रूप में कही जाती है तो कुछ लोगों को शंका होने लगती है। होनी भी चाहिए। 'राज की इच्छा' से क्या तात्पर्य है? राज तो व्यापार संघ, सहयोग समिति, मजदूर सभा आदि की भाँति एक संघटन है जिसका अपने सदस्यों से भिन्न कोई शरीर नहीं है। फिर वह इच्छा कैसे कर सकता है? यह स्पष्ट है कि 'राज की इच्छा' कहने से उन लोगों की इच्छा की ओर संकेत किया जा रहा है जिनको सरकार कहते हैं। सरकार कोई एक व्यक्ति हो या कई व्यक्तियों का समुदाय पर राज का वही प्रतीक होता है और राज के नाम पर सब काम करता है। उसी की इच्छा राज की इच्छा कही जा सकती है। मृत्यु तथा अन्य कारणों से सरकारें बदलती रहती हैं, इसलिए राज की इच्छा भी बदलती रहती है और इसका परिणाम यह होगा कि न्याय का स्वरूप भी बदलता रहेगा। उसकी कोई निश्चित कसौटी न होगी वरन् जिस समय सरकार की जैसी इच्छा होगी उस समय वैसा न्याय होगा। इसका अर्थ यह हुआ कि राज कभी अन्याय कर ही नहीं सकता क्योंकि वह अपनी ही इच्छा के प्रतिकूल काम कर नहीं सकता। जब राज अन्यायी हो ही नहीं सकता

तब राजद्रोह करने या अन्य किसी प्रकार से राजाज्ञा का विरोध करने का प्रश्न उठना ही न चाहिए। साधारण मनुष्य अज्ञान और रागद्वेष से दबा रहता है, उसका तामस, अधम, 'स्व' उसके सात्विक, उत्तम 'स्व' को अभिभूत रखता है, इसीलिए उसे अपने भले बुरे को समझने की क्षमता नही होती। यदि वह ज्ञानपूर्ण और निष्पक्ष बुद्धि से विचार करे तो उसको यह विदित हो जायगा कि राज की इच्छा उसकी उत्तम 'स्व' की इच्छा से, उसकी वास्तविक इच्छा से, अभिन्न है, राज की इच्छा उसकी अपनी इच्छा है। ठण्डे मन से विचार करने पर चोर उस कानून का समर्थन करेगा जिसके अनुसार वह दण्ड पा रहा है।

यह तर्क उस शका का समाधान नही करता जो 'राज की इच्छा' का नाम सुनकर उत्पन्न हुई थी। यह मानना कठिन ही नही वरन् असम्भव है कि राज की इच्छा का, जो वस्तुत तत्कालीन सरकार की इच्छा है, समर्थन प्रत्येक नागरिक की शुद्ध बुद्धि करेगी। यह कैसे माना जाय कि औरङ्गजेब की हिन्दू प्रजा की सात्विक बुद्धि जजिया कर और मन्दिरो के ढहाये जाने का समर्थन करती? यह कैसे कहा जाय कि आज अँगरेजी साम्राज्यशाही को भारतीय उत्तम 'स्व' का आशीर्वाद मिल रहा है या यहूदियो की निष्पक्ष बुद्धि उस व्यवहार का अभिनन्दन करती है जो नात्सी सरकार उनके साथ कर रही है? जो लोग सरकार मे होते है वह ऋत और सत्य को पहिचाननेवाले, धर्म्मासाक्षात्कर्ता योगी महात्मा नही होते। रागद्वेष की दृष्टि से प्राय उनमे और दूसरे मनुष्यो मे कोई भेद नही होता। फिर उनकी बुद्धि पर इतना भरोसा कैसे किया जाय कि वह सदा सब के हित की ही बात सोच सकेगे? जब इस प्रकार का भरोसा नही किया जा सकता तब फिर उनकी इच्छा को ज्यो का त्यों कैसे स्वीकार किया जा सकता है? जब शका उत्पन्न हो गई तो फिर हमारे लिए यह देखना अनिवार्य्य हो गया कि राज की इच्छा जिन अधिकारो की रक्षा किया करती है वह कैसे अधिकार है और किनके अधिकार है। प्रसङ्गत एक और प्रश्न भी उठ गया है। मैंने अभी 'सब के हित'

का चर्चा किया है। यह हित क्या है और इनका अधिकारो से क्या सम्बन्ध है ?

मनुष्य का, कम से कम शरीर से अविकलाग और बुद्धि से स्वस्थ मनुष्य का, यह सब से पहला हित है कि उसका जीवनसूत्र अनुच्छिन्न रहे। इस सम्बन्ध मे विवाद के लिए स्थल नही है। पौधे तक जीवित रहने का प्रयत्न करते है, कीडे-मकोडे तक मरने से बचना चाहते है। जब प्राणो पर आ बनती है तब दुर्बल से दुर्बल जीव लडने को उद्यत हो जाता है। जीवित रहने का अर्थ है भर पेट भोजन मिलना, पहिनने को ऋतु के अनुसार पर्य्याप्त वस्त्र मिलना और रहने को घर मिलना। करोडो मनुष्य इन चीजो के लिए तरसते मर जाते है। परन्तु विद्रोह करना तो दूर रहा अपने भाग्य या कर्म को ही कोस कर चुप रह जाते है। किन्तु इसका यह अर्थ नही है कि यह लोग भोजन-वस्त्र को अपना हित नही मानते। शासक और धनिक वर्ग भी यह नही कहता कि इन अभागो को यह चीजे नही मिलनी चाहिए थी। अत पूर्ण आयु तक जीवित रहना और भोजनादि जीवन के साधनो का उपभोग करना प्रत्येक मनुष्य का हित है। लोग बहुत कुछ चुपचाप सह लेते है परन्तु जब जीवन पर आघात होने लगता है तो फिर सहनशीलता का अन्त हो जाता है। जीवित रहने की वासना के समान ही एक और प्रबल वासना है। मेरा सकेत रति-प्रवृत्ति से है। यह वासना भी प्राणिमात्र मे है और यह कहना कठिन है कि इन दोनो वासनाओ मे कौन अधिक बलवती है। इसकी प्रेरणा से मनुष्य भोजनादि ही नही जीवन तक को जोखिम मे डाल देता है। ऐसे लोग भी इसके वश मे आ जाते है, जो यह खूब जानते है कि इसके परिणामस्वरूप यदि सन्तान हो गई तो उसका भरण-पोषण कर सकना उनके सामर्थ्य के बाहर है। यदि इसके लिए व्यवस्था न रहे तो समाज मे शान्ति नही रह सकती। जहाँ दासता प्रथा चालू होती थी वहाँ भी गुलामो को विवाह करने का अवसर दिया जाता था। यदि ऐसा न किया जाता तो गुलाम पागल पशु हो जाते और मालिको

की सुख-शान्ति को नष्ट-भ्रष्ट कर देते। अत मनुष्य का यह भी एक हित है कि उसे विवाह करने और सन्तान उत्पन्न करने का अवसर मिले।

यहाँ तक तो हम ऐसे विचारक्षेत्र मे थे जो प्राय विवादशून्य है। इस 'प्राय' का अर्थ आगे चलकर स्पष्ट होगा। परन्तु यहाँ से आगे मत-वैषम्य आरम्भ होता है। प्रत्येक मनुष्य कुछ सहज प्रवृत्तियो और योग्य-ताओ को लेकर आता है। यदि उसको इन प्रवृत्तियो के अनुसार काम करने और इन योग्यताओ को विकास देने का अवसर मिलता है तो उसकी आत्मा जैसे भीतर से विकसित हो उठती है, उसको एक प्रकार के अनन्य-साधारण सुख का अनुभव होता है। इसके विपरीत यदि अवसर न मिला तो आत्मा भीतर ही सकुचित हो जाती है और सारा जीवन बिसूरने मे ही जाता है। इससे व्यक्तियो के साथ-साथ समाज की भी क्षति होती है। जिसके भीतर कुशल अध्यापक होने की योग्यता है यदि वह जूतो की मरम्मत करने के काम मे लगाया जाय तो उसका जीवन तो अशान्ति मे बीतेगा ही पर उसके इच्छाभिघात का परिणाम दूसरो को भी भुगतना पडेगा। समाज को जहाँ एक कुशल अध्यापक मिलता वहाँ एक अकुशल मोची मिलता है। दुहरी हानि होती है। अपनी योग्यता को पूरा-पूरा खिलने देने का अवसर न पाने से करोडो मनुष्य समाज की समुचित सेवा करने से वचित रह जाते है। योग्यता और प्रकृति को अवसर मिलने के लिए दो बाते आवश्यक है। पहली बात यह है कि शिक्षा मे कोई प्रतिबन्ध न हो। बच्चा किसी कुल और जाति मे जन्म ले, उसके माता-पिता चाहे जो और जैसे हो, बच्चे को अपनी योग्यता के अनुसार ऊँची से ऊँची शिक्षा बेरोकटोक मिले। सब की योग्यता एक-सी नही होती, इसलिए न तो सब को एक ही प्रकार की शिक्षा चाहिए, न सब लोग शिक्षा की किसी दिशा मे समान मर्यादा तक जा सकते है परन्तु बाहरी कारणो से किसी की उन्नति मे रोध न होना चाहिए। दूसरी बात यह है कि शिक्षा पाने के बाद योग्यता के अनुसार काम मिलना चाहिए। यदि

काम देने मे योग्यता को छोडकर कुल या जाति या किसी अन्य बात को ध्यान मे रक्खा गया तो शिक्षा का प्रबन्ध करना बेकार है। यहाँ पर मै चरित्र को भी योग्यता में अन्तर्भूत कर रहा हूँ। यह सत्य है कि केवल पुस्तकी पढाई चरित्र के निर्दोष होने का प्रमाण नही होती पर यह भी सत्य है कि केवल कुल और जाति से चरित्र नही बनता। हमारे जेलो मे बहुत से कैदी उन्ही जातियो के होते है जो ऊँचे माने जाते है। कहने का तात्पर्य यह है कि योग्यता की पूरी-पूरी परीक्षा कर लेनी चाहिए परन्तु परीक्षा के बाद मनुष्य को अपनी योग्यता से काम लेने का अवसर मिलना चाहिए। इस प्रकार शिक्षा पाने और काम करने का अवसर पाने से मनुष्य की पूरी आत्माभिव्यक्ति होती है। यह आत्माभिव्यक्ति भी मनुष्य का हित है। पहले जिन दो हितो का वर्णन हुआ है वह स्वत उपादेय होते हुए भी इस तीसरे हित के लिए साधन-स्वरूप हैं।

देखने मे ऐसा प्रतीत होता है कि इस तीसरे हित की सत्ता भी विना विवाद के स्वीकार होनी चाहिए। इसमे समाज का भला देख पडता है। परन्तु इसके सर्वसम्मत होने मे कुछ अडचनें पडती है। भिन्न भिन्न समयो और देशो मे समाज मे कुछ विशेष लोगो को प्रधानता प्राप्त रही है। यह प्रधानता किसी समुदाय विशेष को कैसे प्राप्त हो जाती है यह महत्त्वपूर्ण प्रश्न है पर इस स्थल पर विचार करना अनावश्यक है। जिस समुदाय को प्रधानता प्राप्त हो जाती है वह अपने और अपने वशजो के लिए उसे अक्षुण्ण बनाये रखना चाहता है। इसका उपाय यही है कि शिक्षा मुख्यतया अपने भीतर ही बाँध रक्खी जाय और उन कामो के करने का अवसर भी अपने को ही मिले जिनमे अधिक दायित्व, उपक्रम और योग्यता की जरूरत पडती है। औरो का आत्माभिसकोच भले ही हो पर अपने स्वार्थ की रक्षा का यही उपाय है। पर यह बात प्राय इस स्थूल रूप मे नही कही जाती। यह सिद्धान्त मान लिया जाता है कि सबकी आत्माभिव्यक्ति होनी चाहिए। इसके आगे यह कहा जाता है कि हम परीक्षा करके देख

चुके हैं कि किस समुदाय मे कहाँ तक आगे बढने की योग्यता है। इसके आगे ले जाने का परिश्रम व्यर्थ जायगा। उस व्यक्ति का आयास निष्फल होगा, समाज को निष्कारण व्यय उठाना पडेगा और चतुर्दिक अशान्ति बढेगी। हिन्दू समाज के ऊँचे वर्ग शूद्रो के साथ शत्रुता का प्रदर्शन नही करते थे। उनका कहना यह था कि चाहे जितना परिश्रम किया जाय यह लोग द्विजो के बराबर नही उठ सकते। प्राचीन यूनान के बडे से बडे दार्शनिक ऐसा मानते थे कि लाख उपाय करने पर भी गुलामो की सन्तान उन स्थानो पर बैठने योग्य नही हो सकती थी जो यूनानी नागरिको को प्राप्त थे। यूनानियो का आज एशिया और अफ्रीकावालो के साथ जो व्यवहार है वह इसी मनोवृत्ति का परिचय देता है। गधे को घोडा कदापि नही बनाया जा सकता। उसकी आत्माभिव्यक्ति इसी मे है कि अच्छा गधा बन सके। कहने का यह ढग भी पुराना हो गया है। यह कहने से कि अमुक समुदाय के लोग जन्मना नीच है, मनमुटाव और अशान्ति बढती है, इसलिए आज-कल ऐसा कहने का चलन उठता जाता है। यह बात स्वीकार कर ली जाती है कि सबको आत्माभिव्यक्ति का पूरा अवसर मिलना चाहिए परन्तु जिन लोगो को प्रधानता प्राप्त हो गई है वह यथा-साध्य इस बात का पूरा प्रयत्न करते है कि सिद्धान्त सिद्धान्त ही रह जाय, व्यवहार मे न आने पाये। यदि इतने पर भी कोई बन्धनो को तोडता-फोडता ऊपर उठ ही जाता है तो उसका स्वागत करके अपनी प्रशसा की जाती है। यह कहा जाता है कि हमारी व्यवस्था इतनी अच्छी है कि योग्य मनुष्य को रुकावट नही पडती। नीचे योग्य मनुष्य है ही कम, नही तो वह भी ऊपर आ सकते थे। इस बात मे इतनी सत्यता तो है कि जो बहुत ही उत्कृष्ट स्वत्व होते है उनको कोई दबा नही सकता पर ऐसे लोग तो करोडो मे एक-दो होते है। जो समुदाय किसी प्रकार ऊपर उठ गये है उनमे भी ऐसे अतिपुरुष यदा-कदा ही जन्म लेते है। आपत्ति यह है कि उन बहुत से मध्यम कोटिवालो का हनन हो जाता है जो समाज के उपयोगी अग बनने की योग्यता रखते हुए भी इतने बलवान नही होते

कि समाज के लगाये हुए सब बन्धनो को तोड सके। मैं इतना स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि यहाँ 'काम' शब्द का प्रयोग केवल व्यवसाय या जीविका के अर्थ मे नही किया गया है। उसकी दृष्टि कला, राजनीति, साहित्य, थोडे मे जीवन के सभी अगो पर पडती है।

मनुष्य एक और चीज का भी भूखा रहता है। उसको इस बात की जिज्ञासा रहती है कि यह जगत् क्या है, इसके पीछे कौन-सी शक्तियाँ काम कर रही हैं, मैं क्या हूँ, मरने के बाद क्या होगा, जगन्नियामक शक्तियो के साथ मेरा क्या सम्बन्ध है। इन बातो का ज्ञान उसको कुछ तो पुस्तको से और मनन करने से प्राप्त होता है, कुछ उन उपायो से मिलता है जिनको सुगमता के लिए उपासना कह सकते है। ऐसा कहा जाता है कि उपासना मे चित्त के एकाग्र होने पर इन प्रश्नो के यथार्थ उत्तर बुद्धि मे स्वत उदय होते हैं और ऋत सत्यमूलक धर्म का साक्षात्कार होता है। उस अवस्था मे 'मैं पर' का भेद विलीन हो जाता है और एक अपूर्व आनन्द का अनुभव होता है। यह मनुष्य का आध्यात्मिक हित है। पूर्वोक्त तीनो हित इससे निम्नकोटि के है क्योकि इसकी सिद्धि होने से मनुष्य अपने आपको पहिचान पाता है। हठ और आग्रह का कोई स्थान नही है। जिस किसी के चित्त मे ऐसी जिज्ञासा उठे उसको इसे तृप्त करने का पूरा अवसर मिलना चाहिए।

स्वाभाविक बात तो यही प्रतीत होती है कि प्रत्येक मनुष्य को अपने हितो के उपभोग करने का अवसर मिलना चाहिए। ऐसा प्रबन्ध होना चाहिए कि समाज के अङ्गभूत सभी व्यक्ति अपने हितो को प्राप्त कर सके और कोई किसी दूसरे की हित-प्राप्ति मे बाधा न डाल सके। जहाँ ऐसा होगा वहाँ व्यक्तियो का समूह अर्थात् समाज भी सुखी और समृद्ध होगा। समाज का हित व्यक्तियो के हित से पृथक् नही हो सकता। हाँ, यह होता है कि हितो मे तारतम्य होने से व्यक्ति बडे हित के सामने छोटे हित को छोड देता है। जिस समय मनुष्य देशभक्ति या धर्म के नाम पर प्राण और सम्पत्ति को हँसते-हँसते तिलाञ्जलि दे देता है उस समय

उसको अपूर्व आत्माभिव्यक्ति और आनन्द की अनुभूति होती है। इससे यह बात निकलती है कि व्यक्तियो की हिततृप्ति की रक्षा होनी चाहिए। दूसरे शब्दो मे व्यक्ति के हित ही उसके प्राकृतिक अधिकार है। राज को इनकी रक्षा करनी चाहिए।

यदि यह बात मान ली जाय तो इसका निष्कर्ष यह निकलता है कि मनुष्य के कुछ नैसर्गिक अधिकार है जो उसको मनुष्य होने से ही प्राप्त है। वह अपने हितो को जन्म से ही अपने साथ लाता है। मूल वासनाओ की प्रबलता सबमे एक-सी नही होती, प्रवृत्तियो और योग्यताओ मे भी भेद होता है, आध्यात्मिक खोज के सवेग मे भी अन्तर होता है। इन्ही बातो को यो कह सकते है कि प्रत्येक मनुष्य अपना पृथक् व्यक्तित्व रखता है। उसका यह सहज हित है कि उसके इस व्यक्तित्व की रक्षा हो और उसको विकास का अवसर मिले पर यह बात बिलकुल ठीक है कि व्यक्तित्व की रक्षा भी समाज मे रहकर ही हो सकती है और उसको विकास का अवसर भी समाज के भीतर ही मिल सकता है। समाज के बाहर रहनेवाला जीवन और मैथुन की वासनाओ को भले ही तृप्त कर ले परन्तु न तो उसकी आत्माभिव्यक्ति हो सकती है, न आध्यात्मिक उन्नति। समाज से कुछ काल के लिए पृथक् होकर एकान्त सेवन करना दूसरी बात है। समाज के बाहर कोई किसी दूसरे के साथ बँधा नही है, अपना बाहुबल ही अपना एकमात्र सहायक है। समाज मे रहने से ही एक को दूसरे का खियाल करना पडता है, इसलिए समाज मे ही अधिकार और कर्तव्य का प्रश्न उठ सकता है। समाज के बाहर न अधिकार है न कर्तव्य। समाज के भीतर सम्प्रदाय, जाति, व्यवसाय-सघ, राज आदि अनेक प्रकार के सघटन होते है। इनकी सदस्यता के कारण बहुत से विशेष अधिकार और कर्तव्य उत्पन्न होते रहते है और समय-समय पर बदलते रहते है पर यह सब अधिकार और कर्तव्य उस मूल अधिकार और कर्तव्य की शाखा-प्रशाखा-मात्र है जो समाज की सदस्यता से उत्पन्न होते है और जिनका मूल्य मनुष्य के वह हित है जो

सहज होने के कारण मनुष्य से पृथक् नहीं किये जा सकते। समाज के अंगभूत सव्यूहनों में राज सबसे बलशाली है। उसके ही ऊपर मनुष्य के मुख्य अधिकार, अर्थात् उसके सहज हितों के संरक्षण और संवर्द्धन की रक्षा का भार है। अपने इस काम को सफलतापूर्वक पूरा करने के लिए राज बहुत से अवान्तर अधिकारों और कर्तव्यों को उत्पन्न करता है परन्तु इन सबके औचित्य की कसौटी यह है कि इनसे मुख्य उद्देश्य की सिद्धि हो और राज की न्यायशीलता इसी बात में है कि इस मुख्य अधिकार की रक्षा करे।

जिस अधिकार की मुख्यशः रक्षा होनी चाहिए उसका स्वरूप तो हमारे सामने आ गया। हमने यह देखा कि इसका उद्गमस्थान राज की इच्छा नहीं है। अब यह देखना है कि राज कहाँ तक इसकी रक्षा करता है और कर सकता है। यह भी समझ लेना चाहिए कि ऐसे प्रसङ्ग में जहाँ राज शब्द का व्यवहार होता है वहाँ तात्पर्य सरकार से होता है। तो फिर प्रश्न यह हुआ कि वह मनुष्य जो दूसरे मनुष्यों की भाँति ही शरीरधारी होते हैं और वैसी ही वासनाओं और इच्छाओं से प्रेरित होते हैं, शासनारूढ़ होकर कहाँ तक दूसरों के इस मूल अधिकार के रक्षक हो सकते हैं?

पृथिवी पर जितनी भी सरकारें हैं उनको तीन चार कक्षाओं में बाँट सकते हैं। कहीं तो कोई व्यक्तिविशेष तलवार के बल पर शासनारूढ़ होता है। वहाँ वह व्यक्ति या उसके मरने पर उसके उत्तराधिकारी वस्तुतः सरकार होते हैं। उनके सचिवगण सरकार भले ही कहलायें परन्तु वह परामर्शदाता मात्र हैं। कहीं पर किसी संगठित दल के हाथ में शासन का सूत्र आ जाता है; वहाँ उस दल के प्रमुख नेता वास्तविक सरकार होते हैं। लोकतन्त्र देशों में मत देनेवाले अपने मत से सरकार को नियुक्त करते हैं। जिस दल को बहुमत मिलता है उसी के नेताओं की सरकार बनती है। किसी प्रकार की भी सरकार हो वह तभी तक शासन कर सकती है जब तक अपनी आज्ञा मनवा सके। साधारणतः लोग [illegible]

की आज्ञाओं को मान लेते हैं। यदि एकाध आज्ञा पसन्द नहीं आती तो भी चुप रह जाते हैं पर सरकार को इस बात के लिए तैयार रहना ही पड़ता है कि स्यात् आज्ञा का विरोध किया जाय। उस समय उसको पुलिस और पुलिस के पीछे सेना से काम लेना पड़ता है। जब तक सैनिक बल है तभी तक शासन चल सकता है। आजकल सैनिक बल का महत्त्व पहले से अधिक हो गया है। पहले तो सरकारी सेना के पास जैसे शस्त्र होते थे वैसे ही शस्त्र जनता के पास भी होते थे पर आजकल सेनाओं के पास मशीनगन, तोप, हवाई जहाज और बम जैसे शस्त्र होते हैं जो जनसाधारण को अलभ्य हैं। यदि सरकार सेना को अपने साथ रख सके तो उसका विरोध करना बड़ा कठिन हो जाता है। कुछ विशेष परिस्थितियों को छोड़कर सफल विद्रोह हो ही नहीं सकता, इसलिए प्रत्येक सरकार सेना को, और विशेषकर सेनानायकों को, प्रसन्न रखना चाहती है। कोई भी सरकार हो, बल प्रयोग बचाती है पर उसे इसके लिए तैयार रहना पड़ता है। कुछ लोग यह आक्षेप करते हैं कि सरकार को कभी बलप्रयोग न करना चाहिए। सरकार लोगों के हितों की रक्षा करती है। यदि लोग उससे सन्तुष्ट नहीं हैं तो उसे हट जाना चाहिए। यह तर्क बहुत सारयुक्त नहीं है। यदि एक बार इसे मान लिया जाय तो थोड़े से शरारती मनुष्य किसी भी सरकार का चलना असम्भव कर देंगे। जब तक लोकमत का बड़ा अंश सरकार के साथ है तब तक वह थोड़े से विद्रोहियों को दबाना अपने लिए अनुचित न समझेगी और बहुपक्ष साथ होने का यही प्रमाण होगा कि यह बहुपक्ष विरोध नहीं करता। चाहे बहुपक्ष कायरता या प्रमाद या आलस्य के ही कारण चुप पड़ा रहे परन्तु सरकारें इसको अपना समर्थन ही मान लेती हैं। अस्तु, तो पहले तो कोई सरकार उन लोगों को अप्रसन्न करना नहीं चाहती जिनका सेना पर प्रभाव होता है। उन लोगों का साथ देना भी सरकार के लिए आवश्यक होता है जिनके धन या मत के बल पर उसकी स्थापना होती है। जहाँ सैनिक पक्ष और मतदाता पक्ष एक ही होता है वहाँ सरकार को बड़ी सुविधा होती है, इसीलिए प्रत्येक

सरकार सेना के अफसरो मे अपने समर्थको को नियुक्त करना चाहती है। परन्तु यदि यह दोनो पक्ष एक न हुए तो सरकार विषम स्थिति मे पड जाती है। ब्रिटेन मे सैनिक अफसरो मे अधिकतर जमीदार और व्यवसायी घरानो के लोग है जो स्वभावत पूंजीग्राही और साम्राज्यग्राही के समर्थक है। जब-जब वहाँ कोई ऐसी सरकार स्थापित हुई है जो थोडा-बहुत समाजवाद की ओर झुकी हुई थी तो उसको यह विश्वास नही रहता था कि सेना उसका पूरा-पूरा साथ देगी। १९९४ (अँगरेजी गणना से सन् १९३७ ई०) के चुनाव मे युक्तप्रात के अधिकाश मतदाता, जिनमे बहुत बडी सख्या हिन्दुओ की थी, काग्रेस के पक्ष के थे, इसलिए यहाँ काग्रेसी सरकार चुनी गई। परन्तु पुलिस के अफसरो मे अधिकाश जमीदार और वकील घरानो के लोग थे जो काग्रेस से दूर रहते है। इनमे भी मुसलमानो की सख्या बहुत बडी थी। इसलिए काग्रेस सरकार को कभी इस बात का पूरा भरोसा नही रह सकता था कि पुलिस बराबर उसके साथ रहेगी। अनुभव ने इस आशका को दृढ कर दिया। यह विशेष परिस्थितियाँ सरकार की कठिनाइयो को बढा देती है परन्तु साधारण नियम यही है कि सरकार को सबसे पहले उन लोगो का खियाल रखना पडता है जिनकी सहायता से वह स्थापित हुई है और जिनकी सहायता से वह अधिकारारूढ रह सकती है। साधारणत सभी मनुष्यो मे अभिमान की कुछ न कुछ मात्रा रहती है। शासकगण अपने मन को यो ही समझा लेते है कि हम जन-साधारण के नि स्वार्थ हित् है अत चाहे जैसे हो हमको शासनारूढ रहना ही चाहिए।

जब सरकार को अपने समर्थको का विशेषरूप से लिहाज करना पडता है तो फिर उन लोगो की जो उसके समर्थक नही है या खुलकर विरोधी है, क्या दशा होगी? सरकार का व्यवहार कभी पक्षपातरहित हो ही नही सकता। न्याय का स्वरूप यह बतलाया जाता है कि शेर और बकरी एक घाट पर पानी पिलाये जाय, राजा और रक, धनवान् और भिक्षुक के अधिकारो की समान रूप से रक्षा हो। ऐसी बाते सुनकर

नासमझ लोग झूम झूम उठते है। इसको रामराज्य कहा जाता है। आज से दीर्घकाल पहले राम के राज्य मे क्या होता था इस बात को जानने की मुझे कुछ बहुत उत्सुकता नही है। यदि सचमुच राम ने अपने हाथ से तापस शूद्र को मारा था तो मुझे वैसा राज्य नही चाहिए। नाम कुछ भी हो न्याय का यह आदर्श श्लाघ्य नही है। बहती गगा मे शेर और बकरी को एक घाट पानी पिला देना बडी बात नही है पर जब पानी थोडा हो तब पहले किसको पानी मिलेगा ? किसको प्यासा रहना होगा ? भारत के राजे-महाराजे तो गुलाम है, इनकी क्या चर्चा की जाय परन्तु यूरोप और अमेरिका की सरकारे क्या पूँजीपतियो और श्रमिको को एक ही आँख से देखती है ? कानून क्या पूँजीपतियो की रक्षा को लक्ष्य करके नही बनाये जाते ? यदि कभी हडताल हो जाती है तो पुलिस के डडे किस पर पडते है ? धनिक तो अपनी मोटर पर बैठकर अधिकारियो से मिल लेता है पर निर्धनो को तो भीड लगाकर पाँव प्यादे सडको पर ही चलना पडता है, इसलिए वही उपद्रवी कहलाते है, उन्ही पर प्रतिबन्ध लगते है। राजा और सेठ के अधिकारो की बात तो समझ मे आती है। उनकी समझ मे उनका सबसे बडा अधिकार यह है कि उनकी परिस्थिति मे परिवर्तन न हो, जो राजा है वह राजा, जो सेठ है वह सेठ बना रहे। परन्तु रक और भिक्षुक के क्या अधिकार है जिनकी रक्षा रामराज्य का न्याय करेगा ? यही, कि जो रक है वह रक बना रहे, जो भिक्षुक है वह भीख माँगता रहे ? क्या समाज मे रक और भिखमगे का होना ही सबसे बडा अन्याय नही है ?

बात यह है कि इस वैषम्य के आधार पर अधिकारो और कर्तव्यो का बडा भारी आडम्बर रच दिया गया है और फिर इस कृत्रिम व्यूह की रक्षा को न्याय कहा जाता है। इस घटाटोप मे मनुष्य का मूल अधिकार लुप्त हो गया। उस मूल अधिकार के स्वरूप को फिर से सोचिये। यदि सब लोगो के मूल हितो का सम्पादन करना है तो समाज का वर्तमान रूप रह नही सकता। जब सबको अपनी प्राकृतिक योग्यता के अनुसार पूरी-पूरी

शिक्षा मिलनी है और शिक्षा के उपरान्त अपनी क्षमता के अनुसार काम करना है तो फिर आज जैसी विषमता नही टिक सकती। जब तक ऐसी विषमता रहेगी कि थोडे से मनुष्य भूमि और कल-कारखानो के पूरे स्वामी हो और दूसरे मनुष्यो के दैहिक और बौद्धिक बल का उपयोग करके लाभ का धन जमा करते जायँ और उसको और धन कमाने का साधन बना सके, तब तक यह सम्पन्न वर्ग सरकार की नकेल अपने हाथो मे रखना चाहेगा और शासन इस विषमता को चिरस्थायी रखने का एक साधन बन जायगा। भोजन-वस्त्र, शिक्षा का प्रबन्ध सब के ही लिए होगा पर प्रबन्ध का मूलभूत सिद्धान्त यह रहेगा कि जब सिह अपना भाग ले ले तब शेष को बकरियो मे बाँट दिया जाय। सिह का भाग कितना हो इसका निर्णय सिह स्वय करेगा। इस व्यवस्था के अनुसार समाज मे रक और भिक्षुक सदैव बने रहेगे। इसका कारण यह नही है कि प्रकृति ने उन्हे बकरी बनाया है प्रत्युत यह कि उनको अपने उन गुणो को विकास देने का अवकाश ही नही मिला जो उनको इस हीन अवस्था के ऊपर उठा सकते। समाज की ऐसी भी व्यवस्था की जा सकती है जिसमे सबको पूरा अवसर मिले। मनुष्य-मनुष्य मे भेद उस समय भी रहेगा परन्तु उसका कारण लोगो की योग्यताओ का प्राकृतिक भेद होगा। आज जो भेद है उसका आधार कृत्रिम है। एक ओर लोग अपनी योग्यताओ के अनुसार काम नही कर रहे है, दूसरी ओर अपनी आवश्यकताओ के अनुसार भोग नही कर सकते। भोजन जैसी वस्तु के सम्बन्ध मे भी, जो प्राणिमात्र की मौलिक वासना का विषय है, कोई राज यह नही सोचता कि प्रत्येक नागरिक के लिए उसके शरीर और मस्तिष्क की आवश्यकता को देखकर व्यवस्था की जाय। इसीलिए हितो के प्रसग मे मैने दोनो मूल वासनाओ के सम्बन्ध मे 'प्राय' शब्द का प्रयोग किया था। जो दबा हुआ है उसको सन्तोष करना चाहिए। राज्याधिकारी और धर्म्माधिकारी, दोनो मिलकर ऐसा ही उपदेश देते है।

इस विचार का परिणाम यह निकलता है कि वर्तमान सामाजिक व्यवस्था

के रहते हुए कोई राज न न्याय करता है न कर सकता है। जो सब से बडा अधिकार है उसकी उपेक्षा होती है। जिस विषमता के आधार पर समाज का सव्यूहन हो गया है उसको स्थिर रखते हुए जहाँ तक आशिक न्याय हो सकता है उसकी आशा की जा सकती है। इस विषमता को बनाये रखने के लिए राज स्वय बहुत से अधिकारो और कर्तव्यो को जन्म देता है। दीवानी, माल और फौजदारी कानून का कलेवर इसी गाथा से भरा पडा है। यद्यपि सरकारी न्यायालयो मे निर्धन का धनिक के सामने ठहरना बहुत ही कठिन है फिर भी इन कृत्रिम अधिकारो की रक्षा राज करता है और इसको न्याय कहता है। विषमता इस सारे न्याय का आधार है। राज प्राण नही दे सकता परन्तु सम्पत्ति को प्राण से अधिक मूल्यवान् ठहराता है। यदि कोई निर्धन मनुष्य अपने कई दिन से भूखे परिवार की क्षुधा-ज्वाला से व्यथित होकर किसी कुबेरकल्प साहूकार की जेब से कुछ पैसे निकाल ले तो उसको जेल भेजना न्याय कहा जाता है। इस प्रकार सम्पत्ति की रक्षा तो हुई परन्तु जिन लोगो की प्राणरक्षा के लिए चोरी की गई थी वह मरने न पावे, यह दायित्व राज का नही है। आजकल बहुत से सभ्याभिमानी देशो मे इस बात की ओर ध्यान दिया जाने लगा है कि जो लोग बेकार है वह भूखो न मरे। इसका बडा भारी कारण यह है कि सम्पन्न वर्ग डरता है कि यह भूखे लूट-पाट मचा देगे। इस प्रकार का प्रबध यह सिद्ध नही करता कि अब विषमता मिटने जा रही है। उससे केवल धनिकवर्ग की सतर्कता का परिचय मिलता है।

मै फिर दुहराता हूँ कि जैसे राज आजकल है और अब तक रहे हैं उनसे शुद्ध न्याय की आशा करना बालू मे तेल ढूँढना है। समाज मे किसी न किसी वर्ग को प्राधान्य प्राप्त रहा है। धन के उत्पादन के साधनो पर उस वर्ग का जो आधिपत्य रहा है उसको बनाये रखने की इच्छा उसको स्वभावत. रही है। इस इच्छा की पूर्ति के लिए वह शासन का सूत्र प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से अपने हाथो मे रखता रहा है और सेना मे प्रभाव-शाली पदो पर उसी के सदस्य होते रहे है। वह वर्ग राज की सारी शक्ति

लगाकर अपने इस स्थान को अटल रखना चाहता है। परन्तु अपने स्वार्थ की दुहाई खुलकर नहीं दी जाती। जन साधारण से यही कहा जाता है कि सब का कल्याण अपेक्षित है। पदारूढ वर्ग अपना नाम लेना तो दूर रहा, सरकार शब्द को भी बचाता है क्योंकि सरकार कहने से उन लोगों के व्यक्तित्व की ओर ध्यान चला जाता है जिनके हाथ में तत्कालीन शासन होता है। अव्यक्तवाची राज शब्द से काम लिया जाता है। लोगों से कहा जाता है कि राज की आज्ञा मानने में तुम्हारा लाभ है और यदि तुम अपनी बुद्धि शुद्ध कर सको तो तुमको प्रतीत होगा कि राज की इच्छा वस्तुत तुम्हारी इच्छा है और राज जो कुछ करता है तुम्हारे हित के लिए करता है। यह बातें कुछ तो केवल प्रचार की दृष्टि से कही जाती हैं परन्तु इनके पीछे केवल दम्भ नहीं है। दूसरे को धोखा देने से पहले मनुष्य बहुधा अपने को धोखा दे लेता है। अपने सामने कोई पातकी नहीं बनना चाहता। अधिकारारूढ वर्ग अपने को समझा लेता है कि वह सचमुच सारी जनता का सच्चा हितैषी है और परार्थ के लिए राजभार ग्रहण कर रहा है। प्राचीनकाल में क्षत्रियों का ऐसा ही विश्वास था, पाश्चात्य देशों के पूँजीपति ऐसा ही मानते हैं, भारत के प्रति ब्रिटिश सरकार की ऐसी ही धारणा है। और यह जादू ऐसा विचित्र है कि अपने शिकार के सिर पर चढ कर बोलता है। जनसाधारण पर प्रचार का ऐसा गहरा प्रभाव पडता है कि वह इस बात पर विश्वास कर लेते हैं और अपने वञ्चकों को अपना अभिभावक मान लेते हैं। उनके लाभ और यशोवृद्धि के लिये देश-प्रेम के गीत गाते प्राण देते हैं। जब मौलिक वासनाओं की तृप्ति में बहुत बाधा पडती है तब जाकर मोहनिद्रा टूटती है।

राज उसी समय ठीक-ठीक न्याय करेगा जब उसमें इस प्रकार का वर्ग वैषम्य मिट जायगा, जब उत्पादन के मुख्य साधन सार्वजनिक सम्पत्ति हो जायँगे और मनुष्य के सहज हित उसके सहज अधिकार हो जायँगे। उस समय राज निष्पक्ष होकर अधिकार की रक्षा अर्थात् न्याय कर सकेगा। यदि कोई किसी के अधिकार में हस्तक्षेप करना चाहेगा तो उसे दण्ड भी

दिया जायगा। पर दण्ड देते समय भी यह बात स्मरण रक्खी जायगी कि भ्रान्त होते हुए भी वह मनुष्य है अर्थात् वह भी सहज अधिकार चाहता है। अपराधी को दण्ड देते समय अपराधी के हित की ओर से आँख नही बन्द की जा सकती।

आजकल राज की ओर से न्याय होने मे एक और अडचन पडती है। शासन के ठीक अर्थात् न्यायानुकूल चलने के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि राजकर्मचारी निष्पक्ष हो पर आजकल यह बात होना बहुत कठिन है। सिंह दो बकरियो के बीच मे तो निष्पक्ष रह सकता है पर यदि एक सिंह और एक बकरी के मुकदमे मे उसे पंच बना दिया जाय तो निष्पक्ष रहना कठिन हो जायगा। वह जान-बूझकर बेईमानी न करे पर मन मे बकरियो के सम्बन्ध मे जो संस्कार जमे हुए हैं उनके ऊपर उठना सुकर नही होता। यदि सरकार किसी प्रकार निष्पक्ष भाव से काम करना भी चाहे तो उसके कर्मचारी निष्पक्ष नही हो सकते। वह उन्ही घरानो से आये है जिनके हाथ मे धन और अधिकार घूम फिरकर रहता है, इसलिए उनका चित्त अनायास ही उस पक्ष की ओर झुकेगा। यह बात अनुभवसिद्ध है। न्यायाधीश भी मनुष्य होते है। यदि उनके वर्ग-स्वार्थ उनकी बुद्धियो को प्रभावित करते है तो इसमे कोई आश्चर्य की बात नही है। जिस दिन समाज मे वर्गभेद मिट जायगा उसी दिन निष्पक्ष कर्मचारी भी मिलेगे।

वर्तमान सामाजिक व्यवस्था के प्रपोषको की ओर से यह कहा जाता है कि किसी वर्ग-विशेष को दोष देना उचित नही है। विषमता की जड मनुष्य के स्वभाव मे निहित है। कुछ लोग आलसी, व्ययशील, दैहिक और बौद्धिक बल से क्षीण होते है, ऐसे लोग परिश्रमी, मितव्ययी, बलशाली और दूरदर्शी व्यक्तियो के बराबर कदापि नही हो सकते। कैसी भी समता एक बार स्थापित कर दी जाय, थोडे दिनो मे फिर विषमता आ जायगी। इस कथन मे थोडा-सा सत्य का अंश है, शेषांश अप्रासङ्गिक है। यह बिलकुल ठीक है कि सब लोगो की क्षमता एक सी

नही होती। यह भी स्मरण रखना चाहिए कि सब की अविश्यकता भी एक सी नही होती। पर हम केवल अवसर की समता स्थापित करना चाहते है, और कोई समता नही। दौड मे सब बराबर नही आते पर किसी को दौडने से रोकना अनुचित है। शिकायत की बात यह है कि आज की व्यवस्था का परिणाम यह हो रहा है कि एक ओर तो योग्य व्यक्ति रोके जा रहे हैं दूसरी ओर अयोग्य व्यक्ति आगे बढाये जा रहे है। अपने सहज गुणो का मूल्य कम और बडे बाप का बेटा होने का मूल्य अधिक है। यह ठीक है कि मनुष्य मे कुछ ऐसी प्रवृत्तियाँ भी है जिनके कारण अवसर मिलने पर भी कुछ लोग उससे लाभ नही उठाते। ऐसे लोगो का प्रारब्ध इन्हे कभी आगे न बढने देगा। पर इतने से ही हम हताश होकर नही बैठ सकते। मनुष्य मे स्तेय और परस्त्रीगमन की भी प्रवृत्ति है परन्तु समाज इस बात का प्रयत्न करता है कि यथाशक्य यह प्रवृत्तियाँ जनहित मे बाधा न डाल सके। वह ऐसी व्यवस्था करने का यत्न करता है जिसमे ऐसी प्रवृत्ति वालो की सत्प्रवृत्तियाँ जाग कर इन कुप्रवृत्तियो को दबावे और यदि इसमे पूरी सफलता न भी मिले तो भी समाज को कम से कम क्षति उठानी पडे। चोर का लडका चोर ही होगा, ऐसा मानने से तो काम नही चलता। सब लोग जितेन्द्रिय महात्मा नही हो सकते परन्तु सबको ऐसा बनने का अवसर तो मिलना ही चाहिए। एक और बात है। प्राकृतिक विषमता समाज की उन्नति के लिए उपयोगी सामग्री है। सब लोग एक से हो जायँ तो मनुष्य-समाज कठपुतलियो का पुज हो जाय। विषमता के कारण सब लोग मनुष्य-जाति की सर्वतोमुखी उन्नति मे विभिन्न प्रकार मे साधनीभूत हो सकते है पर आज इस विषमता से काम लिया ही नही जाता। प्राकृतिक विषमता की जगह रुपये की नीव पर जो कृत्रिम विषमता खडी कर दी गई है वह बहुतो को लोकहित की सेवा करने ही नही देती। आज केवल उतनी और उसी विद्या की खोज है जो लब्धस्वार्थ व्यक्तियो की श्रीवृद्धि मे सहायक हो सके, यदि इस पर भी कुछ प्रतिभा और

कला का प्रकाश बच रहा है तो या तो इसलिए कि उसका अस्तित्व श्रीमानों की शोभा बढाता है या उसको शारदा का कुछ ऐसा आशीर्वाद प्राप्त है कि अप्रसन्न होते हुए भी वह उसकी सत्ता को मिटा नही पाते। इन बातो को देखते हुए हम यह कहने को विवश है कि प्राकृतिक विषमता का नाम लेकर वर्तमान सामाजिक सव्यूहन का समर्थन नही किया जा सकता।

यह भी ठीक-ठीक समझ लेना चाहिए कि हम सामाजिक सव्यूहन मे किस बात का विरोध कर रहे हैं। यहाँ पर हम यह नही कह रहे है कि सब लोगो की सम्पत्ति बराबर कर दी जाय या विभिन्न काम करनेवालो को एक सा ही पारिश्रमिक मिले। हम यहाँ पर वर्ग-व्यवस्था के सम्बन्ध मे भी नही विचार कर रहे हैं। हमारा कहना यह है कि समाज की उन्नतिशीलता की परख उसके चोटी के महापुरुषो से नही वरन् जनसाधारण से होती है। जन-साधारण की उन्नति तब ही हो सकती है जब मनुष्य होने के नाते सब बराबर समझे जायँ और कोई तब तक बडा या छोटा न समझा जाय जब तक वह व्यवहार क्षेत्र मे अपनी करनी से इसका प्रमाण न दे दे। हम यह कह सकते हैं कि जब तक सम्पत्ति के उत्पादन के मुख्य साधनो पर सारे समाज का स्वाम्य न होगा तब तक उत्पादन का लक्ष्य जनता की आवश्यकताओ की पूर्ति के स्थान मे थोडे से व्यक्तियो का लाभ होगा। उस अवस्था मे यह थोडे से व्यक्ति राजशक्ति अपने स्वार्थ की सिद्धि का साधन बनाकर रक्खेंगे और जनता का बहुत बडा अश नीचे गिरा रह जायगा। यही कृत्रिम विषमता है और जब तक यह रहेगी तब तक वास्तविक न्याय का गला घोटा जायगा।

इस कथन का यह तात्पर्य नही है कि आजकल कोरा अन्याय ही होता है। जिस प्रश्न मे वर्गसघर्ष जितना ही छिपा रहेगा उसमे उतना ही न्याय होगा। दो पूँजीपतियो या दो श्रमिको के बीच न्याय करना कठिन नहीं है। कठिनाई वहाँ पडती है जहाँ दोनो ओर से दो भिन्न

स्वार्थ वाले पक्ष खडे होते हैं। ऐसे मामलो में भी सदा अयथार्थ कार्यवाही नही होती। ऐसे भी न्यायाधिकारी हैं जो अपने को वर्ग-भावना के ऊपर उठाकर इस बात की जाँच करते है कि अपराधी कौन है और उसको दण्ड देने की चेष्टा करते है। ऐसे लोगो के अस्तित्व के कारण ही यह भ्रम बना हुआ है कि राज मे न्याय होता है। पर सच बात यह है कि प्रयत्न करके भी प्राय न्याय करने मे सफलता नही हो सकती क्योकि समाज का सव्यूहन ही अन्यायमूलक है और जिन विधानो के अनुसार न्यायाधीश को चलना पडता है वह इस अन्याय के आधार पर बने है। न्याय की उपमा तुला से दी जाती है। आदर्शदृष्ट्या यह उपमा ठीक है परन्तु व्यवहार मे तुला का एक पल्ला पहले से ही झुका हुआ है। पहले वह सीधा हो ले तब कही ठीक तौल मिल सकती है।

समाज के संगठन की जड मे जो अन्याय है वह सामाजिक जीवन के सारे वातावरण को विषाक्त किये हुए है। प्रतिदिन खुला विद्रोह नही होता। गरीब लोग भी हँसते-बोलते है, गाते बजाते है। परन्तु विषमता घुन की भाँति सामाजिक शान्ति को छेदती रहती है। अपनी आत्मा की अभिव्यक्ति लक्ष्य नही रह गया है। सब की दृष्टि धन बटोरने की ओर जाती है, इसके लिए चाहे जैसे उपायो से काम लेना पडे। एक ओर थोडे से मनुष्य समृद्धि और सुख का रस लेते है, दूसरी ओर करोडो मनुष्यो को टुकडो पर सन्तोष करना पडता है। वह अपने मे जिस योग्यता को देखते हैं उससे काम लेने का अवसर नही मिलता। पेट भर भी जाय परन्तु हृदय मरते दम तक भूखा ही रहता है। चुनाव मे मत देने का अधिकार देकर ऐसे लोगो को थोडा-बहुत भुलावे मे डाला जा सकता है पर यह बात भी बहुत दिनो तक नही चल सकती। यदि रहने को ठिकाने का घर नही है, खाने को अच्छा भोजन नही मिलता, तेली के बैल की भाँति पिसना पडता है, अध्यात्म-चिन्तन या सास्कृतिक रसास्वाद के लिये समय नही मिलता, अपने बच्चो की शिक्षा का प्रबन्ध नही हो सकता, तो फिर मत देने का अधिकार लेकर ही क्या होगा ? यह अधिकार तब

ही उपयोगी हो सकता है जब समाज का संघटन न्यायमूलक हो अर्थात् नागरिक मात्र के सहज हितो का साधन राज का लक्ष्य हो और वह किसी समुदाय विशेष की ओर अधिक ध्यान देने के लिए बाध्य न हो। उसी अवस्था मे अन्ताराष्ट्रीय समस्याएँ भी सुलझ सकती है। जब वस्तुओ का उत्पादन लोगो की आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए, न कि पूँजी लगानेवाले व्यक्तियो को लाभ पहुँचाने के लिए होगा, और राज कुछ प्रभावशाली समुदायो के गौरव और धन बढाने के साधन न रह जायँगे, तब ही विभिन्न देशो और राष्ट्रो मे प्रतिस्पर्धा की जगह सहयोग का भाव फैल सकेगा और मनुष्यमात्र को एक कुटुम्ब मानकर उसके कल्याण की बात सोची जा सकेगी।

सदाचार

वैयक्तिक व्यवहार मे 'न्याय' शब्द का जो अर्थ होना चाहिए उसका दिग्दर्शन ऋत और सत्य के प्रसङ्ग मे हो चुका है। अपने धर्म का पालन करना अर्थात् कर्तव्यपथ पर चलना ही न्याय है। इस विषय का विवेचन आचारशास्त्र का ध्येय है, इसलिए उस पर यहाँ विस्तार से विचार करना अनावश्यक है। जो मनुष्य सत्य के मार्ग पर चलनेवाला होगा उसका आचरण न्याययुक्त होगा। न्यायाचार की एक बडी परख है। जिसके साथ बर्ताव करना हो, अपने को उसकी जगह रखकर सोचा जाय कि अपने लिए क्या अच्छा होगा। वैसा ही आचरण किया जाय। जो मनुष्य जितनी ही सफलता के साथ अपने मे दूसरो के साथ इस प्रकार की समवेदना, सहानुभूति उत्पन्न कर सकेगा उसका व्यवहार उतना ही न्यायपूर्ण होगा। कभी-कभी अपने भाव को पहचानने मे भूल हो सकती है। यह भी हो सकता है कि जो बात अपने को अच्छी लगे वह वस्तुत श्रेय न होकर प्रेय मात्र हो। फिर भी अभेदमूलक व्यवहार प्रशसनीय और न्याययुक्त ही होगा। अन्याय वही होता है जहाँ मनुष्य अपने लिए एक मर्यादा और दूसरो के लिए दूसरी मर्यादा रखता है। ऐसी भेद-दृष्टि न रखना ही वास्तविक सदाचार है।

हमने सक्षेप मे उन तीनो क्षेत्रो पर दृष्टि डाली है जिनमे न्याय शब्द का प्रयोग किया जाता है। ऐसा देख पडता है कि जहाँ कर्म होगा वही न्याय अन्याय का प्रश्न उठ सकता है। जो कर्म उचित है उसका करना कर्तव्य और न्याय है, जो अनुचित है उसका करना अकर्तव्य, अधर्म और अन्याय है। जिस कर्म की तह मे मैं-तू, अपना, पराया का भेद रहता है वह कर्म रागद्वेष से विमुक्त हो नही सकता और उसके करने मे अन्याय का अश अवश्य रहेगा। जितना ही भेद भावना छोडकर मैं को पर के साथ, व्यक्ति को विराट् के साथ मिलाया जा सकेगा उतना ही अपना और सब का कल्याण सम्पादित होगा, उतना ही न्याय होगा। व्यक्ति के सामने कर्तव्य का यही प्रशस्त पथ है। राज भी तभी न्याय-कारी कहला सकता है जब वह निष्पक्ष होकर सब नागरिको को मनुष्य की भाँति रहने का, अर्थात् आत्माभिव्यक्ति करने और धर्म का साक्षात्कार करने का, अवसर दे। जो व्यक्ति और जो राज न्यायपथ से विचलित होता है वह अपने लिए विपत्ति का आह्वान करता है क्योकि ऋतसत्यात्मक जो नियति शक्ति विश्व का परिचालन और नियमन कर रही है वह कभी सोती नही। वह सत्यानुचारी को ऊपर उठाती है, सत्य-विपर्यगामी को नीचे गिराती है। यही उसका न्याय है।

हँसी का मनोवैज्ञानिक विवेचन और साहित्य में हास्यरस का उचित स्थान

हँसी से सम्बन्ध रखनेवाला रस हास्यरस है। साहित्य के आचार्यों ने इसके कई लक्षण और भेद बतलाये है पर मूल बात यही है कि हास्यरस हास्य, हँसी पर निर्भर है। पता नही शृङ्गार और करुण की भाँति हास्यरस को भी किसी ने आद्य और सर्वश्रेष्ठ माना है या नही पर यदि 'वाक्य रसात्मक काव्यम्' वाली परिभाषा ठीक है तो स्त्री पुरुष, बाल-वृद्ध, शिक्षित-अशिक्षित, अथच समाज के सभी वर्ग, निरन्तर हास्य-रसात्मक काव्यो की रचना करते रहते है क्योंकि हँसी प्राय. सब को आती है और हँसानेवाली बात प्राय सर्वत्र सुनी जाती है।

पर प्रश्न यह होता है कि हमको हँसी कब आती है, वह कौन-सी परिस्थिति है, जो हमको हँसा सकती है? चित्त-शास्त्र के विद्वानो ने इस पर विचार किया है। उनके विचारो के निष्कर्ष को थोडे शब्दो मे यो कह सकते है कि "समवेदना के अभाव मे स्वल्प अपूर्णता के अनुभव से चित्त मे जो परिणाम होता है वह अपने को जिस बाह्य चेष्टा द्वारा व्यक्त करता है उसका नाम हँसी है।"

उपर्युक्त सूत्रात्मक वाक्य को स्पष्ट करना आवश्यक है। इस उद्देश्य से हम इसके मुख्य-मुख्य पदो को लेकर उनका अर्थ समझाने का प्रयत्न करेगे।

(क) स्वल्प अपूर्णता प्रत्येक मनुष्य ने मनुष्य की आकृति और व्यवहार का एक आदर्श बना रक्खा है। यह आदर्श उसकी बुद्धि, सस्कृति और ज्ञान के अनुरूप होता है। हम सबने अपने अपने चित्त मे यह स्थिर कर लिया है कि मनुष्य का शरीर और उसके अवयवो की रचना कैसी

होनी चाहिए, उसके उठने-बैठने, बोलने-चालने, खाने पीने का ढग कैसा होना चाहिए, उसको किस अवसर पर कैसा व्यवहार करना चाहिए। यह चित्र अस्पष्ट है, यदि हमसे कहा जाय तो इसका ठीक ठीक वर्णन नही कर सकते, पर इसके अस्तित्व मे कोई सन्देह नही है। इस चित्र मे बहुत कुछ तो हमारे शरीर और व्यवहार की छाया है, शेष अश हमारे समाज के व्यवहार से आया है और कुछ हमारी विद्या और बुद्धि से प्रेरित विचारो का फल है। यो कहना अनुचित न होगा कि हम अपना ढॉचा खीचकर उसमे अपने समाज की परिपाटी और अपनी शिक्षा-दीक्षा द्वारा जहाँ-तहॉ रग भर देते हैं और फिर इस मानस चित्र की कसौटी पर दूसरो को कसते है। जो इसके अनुकूल उतरता है उसको तो साधारण मनुष्य समझते है, दूसरो को प्राय अपूर्ण मानते है। 'प्राय' इसलिए कहा जाता है कि कोई कोई मनुष्य हमारे चित्र से सर्वथा प्रतिकूल होते हुए भी हमे अपूर्ण नही जँचता, उलटे उसको देख कर हमे अपना आदर्श ही अपूर्ण जँचने लगता है। हम ऐसे मनुष्य को महात्मा, साधु आदि नामो से पुकारते हैं और उसके प्रति श्रद्धा, ईषद्भय, का अनुभव करते है। पर इन थोडे से अपवादो को छोडकर अन्य ऐसे व्यक्ति जो हमारे आदर्श के अनुकूल नही ठहरते हमको अपूर्ण प्रतीत होते है। उनको देखकर चित्त मे जो परिणाम होता है, पारिभाषिक भाषा को छोडकर सामान्य बोलचाल मे यो कहिये कि चित्त की जो अवस्था होती है, वह हँसी के रूप मे प्रकट होती है। बहुत लबा या नाटा मनुष्य, काना, चपटी नाकवाला इन सबको देखकर हम हँस देते है। जिसके पॉव सीधे नही पडते, जो लडखडा कर चलता है, जो बैठे बैठे ऊँघता है या ऊँघ कर गिर पडता है, जो पूर्णवयस्क मनुष्य छोटे छोटे जीव जन्तुओ को देखकर डर जाता है, जिसकी वाणी व्याकरण से अशुद्ध होती है, जो नमस्कार करने, भोजन पान के पात्रो को बरतने, नहीं जानता, जो अनर्गल बकता है, इन सभी को देखने से हमे हँसी आती है।

इन सब दशाओ मे आपन्न मनुष्य हमारे आदर्श से, हमारे मानस

स्थिति में, गिरे हुए हैं। पर इन उदाहरणों पर सूक्ष्म विचार करने से यह प्रतीत होगा कि इनमें जो अपूर्णता है वह निरवच्छिन्न नहीं है। उसमें कई विशेष गुण हैं। एक विशेषता तो यह है कि वह स्वल्प है। काने को देखने से हँसी आ सकती है पर अंधे, बहिरे, गूँगे, एक हाथ वाले को देख कर हँसी नहीं आती। अनर्गल बकनेवाले पर हँसी आ सकती है पर नितान्त पागल पर नहीं। जो सभ्य समाज का अंग बन कर असंस्कृत व्यवहार करता है उस पर हँसी आती है पर जो नितान्त बर्बर है उसके आचरण हमें नहीं हँसाते। ऐसे दृश्यों से अद्भुत, करुण या शान्त रस का उद्रेक हो सकता है, हास्य का नहीं। इस अपूर्णता का दूसरा लक्षण यह है कि वह आधि-व्याधिजन्य न हो। यदि किसी रोग से किसी का अंगभंग हो गया है या पीड़ा के कारण उसके पाँव् बराबर नहीं पड़ते तो उस पर हँसी नहीं आती। अनर्गल वार्ता पर हँसी आती है पर सन्निपात के प्रलाप पर नहीं। यदि किसी पढ़े-लिखे मनुष्य के लड़के को साधारण सा ज्वर आ जाय और वह बौखलाया सा फिरे तो उसके व्यवहार पर हँसी आ सकती है पर जब कोई स्त्री अपने बच्चे की सामान्य सी अस्वस्थता पर व्यग्र और चिन्तातुर देख पड़ती है तो हँसी नहीं आती क्योंकि उसकी चिन्ता आधि की कोटि तक पहुँची होती है। अरस्तू ने हास्योत्पादक अपूर्णता का यह लक्षण बताया है कि वह ऐसी न हो जिससे वाह्य क्षति या आन्तरिक व्यथा हो।

बेन ने कहा है कि जब किसी मनुष्य पर अकस्मात् कोई ऐसी हल्की विपत्ति आ पड़ती है जो उसकी ही करनी का प्रत्यक्ष फल होती है तो हमें हँसी आ जाती है। यह लक्षण भी ऊपर के कई उदाहरणों में घटता है। यदि कोई मनुष्य सड़क पर चलते समय आकाश पर दृष्टि रखता है और फलत गिर पड़ता है तो हमें हँसी आ जाती है क्योंकि यह उसके कर्म्मों का प्रत्यक्ष फल है और अकस्मात् मिला है पर यदि गिरने पर उसे गहरी चोट आ जाय तो हँसी नहीं आती। हँसी आ भी जाती है तो चोट देखकर लौट जाती है क्योंकि यह विपत्ति हल्की नहीं, गुर्वी है। यदि इस प्रकार

आकाश प्रेक्षण करनेवाला ऐसी ओर जा रहा हो जिधर आग जल रही है तो उसके जल जाने पर, चाहे उसे कष्ट थोडा ही हो, हमे हँसी नही आती क्योकि यह बात अकस्मात् नही हुई, प्रत्युत हम इस दुष्फल की प्रतीक्षा ही कर रहे थे। यह ध्यान रखना चाहिए कि दूसरे की विपत्ति पर जो हँसी आती है उसमे बहुधा दया, द्वेष आदि का भी समावेश रहता है। उस समय हास्य के साथ साथ करुण, रौद्र आदि रसो का भी समिश्रण हो जाता है।

जहाँ मानस-चित्र के साथ तुलना के लिए पर्य्याप्त क्षेत्र नही मिलता वहाँ हँसी भी नही आती। पशु-पक्षियो के आचरण कुछ अशो मे मनुष्यो के आचरणो से मिलते है इसलिए हम उनके व्यवहार को अपनी कसौटी पर कसते है, इसीलिए हमे उनके किसी किसी व्यवहार पर हँसी भी आती है। जड वस्तुओ मे हम अपने साथ कोई सादृश्य नही पाते, अत उनकी अपूर्णताओ पर प्राय हँसते भी नही। पर कोमल बुद्धि वाले और अशिक्षित मनुष्य तथा बालक सामान्य ऊपरी सादृश्य को ही देखकर तुलना करने लग जाते है। बालक खिलौने को निर्जीव नही समझता। इसीलिए हम कभी कभी जड वस्तुओ की विशेष परिस्थितियो पर भी हँस देते है।

पूर्णता-अपूर्णता प्रत्येक मनुष्य के बुद्धि विकास और सस्कृति पर निर्भर होती है। जो एक का आदर्श है वह दूसरे के लिए सर्वथा दोषमय है। इसीलिए जिस पर एक को गर्व है उस पर दूसरा हँसता है। विद्वान् मनुष्य को सामान्य मनुष्यो पर हँसी आती है और विवेकी दार्शनिक तथा विरक्त योगी को प्राणीमात्र की दुर्बलताओ और अपूर्णताओ पर हँसी आ सकती है।

हम आचरण का आदर्श बना तो लेते है पर सदैव उस आदर्श पर टिकते नही, पदे पदे उस आचरण की कसौटी से न्यून ठहरते है। यह समझना कि मेरा चरित्र सर्वदा मेरे उच्च आदर्श के अनुकूल, अथच अनालोच्य है, केवल मिथ्याभिमान है। समझदार मनुष्य अपनी अपूर्णताओ का अनुभव करके अपने ऊपर भी हँसता है। अँगरेजो मे इस प्रकार की हसनक्षमता 'सेस आव ह्यमर' की बडी प्रशसा है। ठीक भी है, जो अपनी

त्रुटियों पर हँस नही सकता। वह अपने तथा दूसरो के जीवन को दूभर बना देता है।

(ख) समवेदना का अभाव समवेदना का अर्थ है दूसरे की मानस अवस्था, उसके भावो का अनुभव करना। दूसरे की अपूर्णता के अनुभव के साथ-साथ उसके प्रति समवेदना का अभाव भी होना चाहिए, नही तो हँसी नही आ सकती। जिसकी त्रुटि हमको देख पडती है उसको इस त्रुटि के कारण कष्ट हो रहा होगा, ऐसा जिसको भान होगा उसको प्राय हँसी नही आ सकती। उसको जिस प्रकार का कष्ट हो रहा है इस प्रकार की अवस्था मे मुझे भी ऐसा ही कष्ट होगा, इसकी जिसको प्रतीति होगी वह तो नही ही हँस सकता। जो लोग दूसरो के कष्टो पर हँसते देख पडते है वे जानबूझ कर क्रूर नही हैं, उनमे समवेदना का अभाव है। वर्गसाँ के अनुसार हँसनेवाले मे वेदनाहीनता, हृदयहीनता होना अनिवार्य्य है। बच्चा किसी कीडे या चिडिया को बाँध देता है और उसकी टाँगो को तोडता है या पख खीचता है, फिर उसके तडपने और छटपटाने को देखकर खिल उठता है। इसका कारण यह नही है कि वह क्रूर है, उसे सचमुच सताना चाहता है, वरन् यह कि उसे उसकी छटपटाने की दशा देखने मे प्रसन्न सी प्रतीत होती है और उसकी वास्तविक पीडा का उसे ज्ञान नही होता। क्रूर स्वभाव के मनुष्य कभी कभी अपने शत्रुओ के दुखो को देखकर हँसते है। यह हँसी वस्तुत. शुद्ध हँसी नही है। देखने मे मुखाकृति और शारीरिक चेष्टा हँसी जैसी भले ही हो पर मुख्यत यह क्रोध और घृणा मिश्रित हर्ष का प्रदर्शन है। हाँ, इसमे शत्रु की अप्राकृतिक अर्थात् अपूर्ण अवस्था का अनुभव और उसके दुख के प्रति न केवल असमवेदना प्रत्युत विषमवेदना भी समाविष्ट है, अत कुछ अश हँसी का भी है। समवेदनाशील को दया आ सकती है, हँसी नही। इसीलिए जिन बातो पर बच्चों तथा अनुद्बुद्धप्रज्ञ व्यक्तियो को हँसी आ जाती है उन बातो पर प्रौढ बुद्धिवाले मनुष्यो को हँसी नही आती। इसी कारण सच्चे साधु महात्मा, जो दूसरो की अपूर्णताओ से पूर्णतया परिचित है, उन पर

हँसते नही। उनकी समवेदना शक्ति उनको हँसने नही देती। हँसी का स्थान दया ले लेती है। उनका प्राणीमात्र के साथ ऐसा तादात्म्य होता है कि वह वैसी हँसी नही हँस सकते जैसी पराये के भूलो पर हँसी जाती है। जहाँ दूसरो को बात बात पर अट्टहास की सूझती है, वहाँ उन्हे मनुष्यमात्र की त्रुटियो पर हल्की सी मुस्कुराहट आ जाती है, जैसी कि हमे प्यारे बच्चो पर आती है या अपनी ही भूलो पर आ जाती है।

ऊपर जो कहा गया है उससे हँसी किस अवस्था मे उत्पन्न होती है यह स्पष्ट हो जाता है। जब हमे किसी व्यक्ति मे हमारे आदर्श की दृष्टि से कुछ अपूर्णता देख पडती है और इसके साथ ही हमारे हृदय मे उसके प्रति समवेदना का अभाव होता है तो उस समय चित्त की एक विशेष अवस्था होती है, जिसे 'हसद्भाव' कह सकते है। उस समय चित्त मे हास्यरस का उद्रेक होता है। प्रत्येक भाव अपने को विशेष चेष्टाओ द्वारा व्यक्त करता है। प्रेम, भय, क्रोध सब की व्यञ्जक विशेष विशेष चेष्टाएँ है। इसी प्रकार हसद्भाव भी आँख, होठ, मुख आदि की विशेष मुद्राओ द्वारा प्रकट होता है।

हँसी का उदय तो समवेदना के अभाव से होता है पर उसके प्रचार के लिए एक प्रकार की समवेदना की आवश्यकता होती है। यदि मुझको किसी व्यक्ति मे कोई त्रुटि देख पडे और मेरे साथियो को न देख पडे या उन्हे उसके प्रति विशेष समवेदना का अनुभव हो रहा हो तो मेरी आई हुई हँसी का भी लोप हो जायगा। एक सूखी तबियत या मुहर्रमी सूरत का मनुष्य, जिसको हसद्भाव युक्त व्यक्तियो से समवेदना न हो, जिसके हृदय मे उस समय उनके भाव का अनुमोदन न हो रहा हो, सारी हँसने वाली मण्डली के आमोद पर पानी फेर देता है। ऐसे अवसर पर विशेषतः यदि वह न हँसने वाला अपने से बडा हो तो, हँसनेवाले का हसद्भाव, लज्जा और आत्मग्लानि मे परिणत हो जाता है।

हसद्भाव किस अवस्था मे उदय होता है यह तो हम देख चुके है, प्रश्न यह होता है कि यह कैसे उदय होता है। इस प्रश्न पर चित्तविश्लेषण

रा, कुछ थोड़ा-बहुत प्रकाश पड़ा है पर वह अभी पर्याप्त नहीं है। मैं इस दुर्विषय के सम्बन्ध में जो कुछ निश्चय कर सका हूँ वह यह है। शरीर की मांसपेशियों में जिस प्रकार शारीरिक शक्ति है, उसी प्रकार चित्त में चेतन शक्ति है और उसी प्रकार तच्छायास्वरूप नाड़ियों में प्राण शक्ति है। साधारण अवस्था में शारीरिक काम चलाने के लिए शरीर में शक्ति की एक मात्रा देख पड़ती है पर विशेष अवस्थाओं में सङ्कल्प द्वारा अधिक शक्ति भी आविर्भूत होती है। इसी प्रकार सामान्य अवस्थाओं में चित्त और नाड़िजाल में तत्तत् शक्ति की उपयुक्त मात्राएँ रहती हैं पर विशेष अवस्थाओं में सञ्चित भंडार में से अधिक मात्रा में भी लाई जा सकती है। जब कभी हमारे सामने कोई अपूर्णता यकायक आ जाती है तो एक गड़बड़ी पड़ जाती है। चित्त और नाड़ियों में तो साधारण अवस्था के अनुकूल शक्ति है और यहाँ ऐसी अवस्था आ पड़ी जिसमें शक्ति कम चाहिए। बस, ऐसी दशा में चेतन शक्ति के फालतू अंश के उछल पड़ने से चित्त में जो एक विशेष अवस्था उत्पन्न होती है वह हसद्भाव है और नाड़ियों की फालतू शक्ति शरीर में जो विकार उत्पन्न करती है वह हँसी है। यदि पहले से पता हो कि क्या होने वाला है तो शक्ति का संयम पहले ही से हो जाय और यह गड़बड़ी न हो। इसीलिए, जैसा कि हमने आरम्भ में दिखलाया है, हँसी के लिए दुर्घटना का अकस्मात् होना अनिवार्य्य है। इसी प्रकार, यदि किसी विशेष अवस्था की प्रतीक्षा में अधिक शक्ति आ गई और वह अवस्था घटित न हुई तो फालतू शक्तियाँ हँसी उत्पन्न करायेंगी। अँधेरी रात में हम किसी कोठरी में किसी के पाँव की आहट और बर्तन खड़कने का शब्द सुनें और घर के दो-तीन व्यक्तियों को साथ में लेकर और हाथ में तलवार लेकर वहाँ चोर की आशंका से जायँ और पहुँचने पर वहाँ भागती हुई चुहिया देख पड़े तो हमें सहसा हँसी आ जायगी। जितनी शक्ति प्रस्तुत थी और जितनी शक्ति की वस्तुतः आवश्यकता पड़ी इन दोनों में जितना ही अधिक अंतर होगा उतना ही हँसी का आवेग अधिक होगा। इसलिए भी एक ही बात पर सबको एक सी हँसी नहीं

आती। जिसका चित्त वश मे है, जिसने समता प्राप्त कर ली है, उसको क्षोभ होगा ही नही, उसके लिए कोई अवस्था विशेष अवस्था नही है, अत न वह फालतू शक्ति बुलाता है, न उसे हँसी आती है। जैसा मैंने पहले भी कहा है, उसका हसद्भाव इतना उग्र होता ही नही कि उसे समय के आगे जाने की आवश्यकता पडे।

सामान्य जीवन में हँसने का जो स्थान है वह तो सब को ही विदित है। हम बात बात मे हँसते है, वडे वडे लडाई-झगडो को हँसकर टाल देते है, दुख की घडियो मे भी हँसी की रेखा खीचने का प्रयत्न करते है। किसी ने कहा है कि हँसी वह तेल है जिसके बिना जीवनरूपी यत्र बिगड जाता है।

एक अँगरेजी दोपदा कहता है कि बुद्धिमान से बुद्धिमान मनुष्य भी कभी कभी की दिल्लगी पसन्द करते है। इसके कई कारण है। एक तो इस प्रकार की हँसी-दिल्लगी मे हमको अपनी ही त्रुटियो का पता चल जाता है। दूसरे जब हम किसी वडे की भूल पर हँसते है तो उस समय उसकी त्रुटि हमे उसकी उस सामान्य मनुष्यता का परिचय देती है जो उसकी महत्ता से प्राय छिपी रहती है। अत उसके साथ इस प्रकार का सादृश्य सम्बन्ध जुड जाने से हमें एक प्रकार का सन्तोष होता है। हम वडे नही तो वडे के सम्बन्धी तो है। तीसरे जिस प्रकार काम करते करते शरीर थककर सुस्ताना चाहता है उसी प्रकार चित्त और नाडिजाल भी थककर विश्राम करना चाहते है। हँसने के समय चेतन और प्राण शक्तियो का व्यय कम होता है अत चित्त और नाडिजाल पर तनाव कम पडता है और उन्हे शान्ति मिल जाती है।

जो स्थान हँसी का जीवन मे है, वही स्थान उसका साहित्य मे है क्योकि सामान्यत साहित्य जीवन का प्रतिबिम्ब है। पर एक भेद है। जीवन मे हँसी स्वत आती है, साहित्य के द्वारा बुलाई जाती है। कवि केवल फोटोग्राफर नही है, वह कलावित् है, स्रष्टा है। अत वह हँसी उत्पन्न करनेवाले अवसरो की सृष्टि करता है। यही उसका सबसे वडा दायित्व

एक अँगरेज ग्रन्थकार कहता है "बुराई की बाढ रोकने के लिए विवेक-बुद्धि और लिखे कानून यह दो दीवारे है। तीसरी दीवार हँसी है। यह उन छोटी बुराइयो को रोकती और दूर कर देती है जो रक्षको की आँख बचाकर पहली दोनो दीवारो के भीतर घुस आती है।" यह बात ठीक है पर बहुत ही गौण रूप से। लिखे कानून उन बातो को रोकते है जिनसे प्रायश समाज की क्षति होने की सम्भावना होती है और विवेकबुद्धि उन बातो को रोकती है जिनसे व्यक्ति की आध्यात्मिक क्षति होने की सम्भावना होती है। हँसी इन दो मे से प्राय एक भी काम नही करती। शारीरिक दोषो की बात तो जाने दीजिये, इन पर तो प्राय मूर्ख ही हँसते है, पर किसी के वेषभूषा की, बोलचाल की, लेखनशैली की हँसी उडाई जा सकती है, चाहे इन बातो से व्यष्टि या समष्टि किसी की क्षति न होती हो। जो बात नई हो, असाधारण हो, उसकी हँसी हो सकती है। धार्मिक और दार्शनिक विचारो की, वैज्ञानिक सिद्धान्तो की, खिल्ली उडाकर विचार के विकास और प्रवाह मे बाधा डालकर सभ्य जगत् को वास्तविक हानि पहुँचाई जा सकती है। व्यक्तियो के हृदयो को चोट पहुँचाकर उनकी प्रतिभा को सदा के लिए सकुचित किया जा सकता है। इसीलिए जिसकी लेखनी मे हास्योत्पादन की शक्ति हो उसे बहुत समझ बूझकर काम करना चाहिए। जन-साधारण की त्रुटियो की ओर ध्यान आकर्षित करना पर इसके साथ ही समवेदना की वृद्धि कराना; हमारी सामान्य मनुष्यता के डोर को सुदृढ बनाना पर अश्लील, पाशव, बातो की ओर से दृष्टि को फेरना, मीठी चुटकियाँ लेना पर मर्म्माघात न होने देना, सर्वोपरि धर्म, कला और विद्या के प्रचार मे सहायक होना—यह सब हास्यरसमयी लेखनी का चमत्कार होना चाहिए।

बहुत से साधु महात्मा सदैव हँसते रहते है। देवगण, ऋषिगण, साधुगण के 'प्रसन्न वदन' होने का बराबर कथन मिलता है। साधु महात्मा ही नही, सामान्य मनुष्यो के चेहरो पर भी ऐसी हँसी कभी कभी देख पडती है। मेरा विश्वास है कि यह "हँसी"

वस्तुत हँसी नही है। हृदय मे जो दुख का अभाव, सन्तोष, ब्रह्मानन्द है, वह अपने को जिस आकृति द्वारा व्यक्त करता है उसे हम 'हँसी' कहते है। आकृतिसाम्य का कारण स्पष्ट ही है। हमारे चित्त मे भाव तो अनेक उठते है पर उनके व्यञ्जन के लिए हमारे पास गिने गिनाये ही अवयव है। होठ, आँख, गाल आदि के ही द्वारा भावो का व्यञ्जन होता है। इसीलिए कई भिन्न भावो का व्यञ्जन सदृशतम् वाह्य चेष्टाओ के द्वारा होता है। क्रोध मे गाल लाल हो जाते है, लज्जा मे भी उन पर लालिमा दौड जाती है, हर्ष, भय और शोक तीनो के अतिरेक मे अपस्मार हो सकता है।







यह पुस्तक हिन्दी के युग-प्रवर्तक कवि 'निराला' के उस प्रकार के निबन्धों का सङ्कलन है, जिनमें समय समय पर कवि ने अत्यन्त निर्भकता से कुछ साहित्यिकों, लेखकों तथा सम्पादकों की आलोचना की है।

मूल्य १, रुपया